THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC

FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.

-The TFIC Team.

Jain Epistemology
and
Contemporary Thought

A THESIS SUBMITTED TO THE
Faculty of Arts
UNIVERSITY OF ALLAHABAD

For
The Award of the Degree of
Doctor of Philosophy

By
Alpana Agrawal

Under the Guidance of
Dr. S. L. Pandey, D. Litt.,
University Professor and Head
Department of Philosophy
University of Allahabad

Department of Philosophy
University of Allahabad
Allahabad

SEPTEMBER—1987

"जैन ज्ञान-मीमांसा और समकालीन विचार"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

के

कला संकाय

में

डाक्टर ऑफ फिलासफी

की

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

शोध छात्रा:

अल्पना अग्रवाल

शोध निर्देशक:

डा० संगम लाल पाण्डेय, डी०लिट०,

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

दर्शन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

1987

सामान्य रूप से जैन-दर्शन को दो युगों में बाँटा जाता है आगम-और न्याय युग । यदि दोनों युगों का ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से अध्य किया जाये तो स्पष्ट होगा कि उपरोक्त दोनों युगों में ज्ञान-मीमांसा के स्वरूप में अन्तर है ।

वास्तव में कहा जाये तो आगम-युग में कोई ज्ञान-मीमांसा नहीं क्योंकि वहाँ पर ज्ञान-मीमांसा का स्वतंत्र विवेचन कहीं भी नहीं मिलता वस्तुतः उस युग में दार्शनिक विचारों का स्वतन्त्रतापूर्वक कहीं उल्लेख नहीं धार्मिक विचारों के सन्दर्भ में ही दार्शनिक विचारों का उल्लेख किया गया इस युग में दार्शनिकों का दृष्टिकोण धार्मिक ज्ञान का है, तार्किक ज्ञान का है । यद्यपि जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से इस बात को स्वीकार नहीं करते भी जिस प्रकार अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञानों का जैन-ग्रंथों में विवेचन किया गया है उससे उनके परम्परागत धार्मिक विश्वासों और विचारों की होती है । उदाहरणार्थ, जैन ज्ञानों को इन्द्रिय जन्य और अतीन्द्रिय वग बाँटते हुये भी इन्द्रियजन्य ज्ञानों को दूसरे दर्शन में मान्य प्रत्यक्ष प्रमाण के नहीं रखते वरन् परोक्ष प्रमाण मानते हैं, क्योंकि जैन "अक्ष" शब्द का अर्थ इ न मानकर "आत्मा" मानते हैं और उसी ज्ञान (अलौकिक ज्ञान) को प्रत्यक्ष मानते हैं जो आत्ममात्र सापेक्ष होता है । अतः स्पष्ट है कि यहाँ ज्ञान तार्किक विवेचन का अभाव है ।

केवलज्ञान का विवेचन निरपेक्षज्ञान के रूप में किया गया है किन्तु दृष्टि से इसके विवेचन का प्रयास नहीं किया गया है, क्योंकि इस ज्ञान त से परे माना गया है । इसे तर्क से परे एक आध्यात्मिक अनुभूति के रूप मे उपस्थित किया गया है । ये ऐसे ज्ञान के प्रकार नहीं हैं जो वस्तुगत ज्ञा अतः इन्हें वस्तुगत ज्ञान की कसौटियों से प्रमाणित भी नहीं किया जा सक यह ज्ञानगत भेद हैं ही नहीं, यह तो आध्यात्मिक अनुभूतियाँ हैं । जैन द

नवीन ज्ञान प्रकारों की सम्भावना मानते हैं, अतः इन ज्ञान प्रकारों को रूढ़ अर्थ में न लेकर अनुभव की संभावनाओं के रूप में लेना चाहिये ।

जैन विचारों के अनुसार, ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति में एक साधन के रूप में माना गया है । ज्ञान का तार्किक स्वतंत्र ज्ञान-मीमांसा के रूप में विकास नहीं किया गया है । यहाँ ज्ञान को सर्वोच्च महत्व नहीं दिया गया है बल्कि मूल्यों को अधिक महत्व दिया गया है । ज्ञान को वहीं तक महत्व दिया गया है जहाँ तक लोक व्यवहार में उपयोगी है । यह ही कारण है कि ज्ञान को उत्पत्ति और मूल्यांकन दोनों ही दृष्टियों से सापेक्ष माना गया है ।

वास्तव में, इस दृष्टि से जैन ज्ञान-मीमांसा को आन्वीक्षिकी के अन्दर रखा ही नहीं जा सकता क्योंकि आन्वीक्षिकी में तर्क का खंडन किसी भी प्रकार से नहीं किया जा सकता किन्तु जैन दार्शनिक ज्ञानों के विवेचन में अंत में, तर्क का खंडन करते प्रतीत होते हैं ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आगम युग में यद्यपि ज्ञान प्रकारों का विवेचन किया गया किन्तु यह विवेचन धार्मिक ही रह गया, वहाँ तार्किक विवेचन का अभाव है जिससे उस युग में स्वतंत्र ज्ञान-मीमांसा का निर्माण न हो सका ।

तार्किक ज्ञान-मीमांसा का बाद में विकास हुआ जिसे न्याय परम्परा के रूप में रखा जाता है । इस परम्परा में आचार्य उमास्वाति, सिद्धसेन, समन्तभद्र, अकलंक देव, विद्यानन्दि, वादिदेवसूरि, माणिक्यनन्दि आदि के नाम उल्लेखनीय है । इन विद्वानों ने उस समय अन्य दर्शनों की तार्किक प्रवृत्तियों से आगमकालीन धार्मिक ज्ञान-मीमांसा का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया । यहाँ ज्ञान का तार्किक स्पष्टीकरण करने का प्रयास दिखायी भी पड़ता है । इस युग में दार्शनिक विचारों की तर्कपूर्वक प्रतिष्ठा की गयी । इस रूप में प्रमाणशास्त्र का विस्तृत विवेचन किया गया । इसके पूर्व आगम युग में यद्यपि प्रमाण शब्द का

प्रयोग हुआ था लेकिन प्रमाण के स्वतंत्र एवं विस्तृत विवेचन का अभाव था। इस युग में, आगम युग में मान्य पाँच ज्ञान प्रकारों को स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणों में रख दिया गया। साथ ही लोकपरम्परा का अनुसरण करते हुये इन्द्रियजन्य ज्ञानों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की कोटि में रख दिया गया। प्रत्यक्ष का सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दो कोटियों में विभाजन किया गया।

इस सन्दर्भ में आचार्य अकलंक का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने प्रमाण-शास्त्र की तार्किक प्रतिष्ठा की और उपर्युक्त दो भेदों में प्रत्यक्ष का तार्किक दृष्टि से विभाजन किया। बाद में आने वाले प्रायः सभी दार्शनिक अकलंक-कृत इस विभाजन को मानते हैं।

आचार्य सिद्धसेन का भी इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने अपनी कृति "न्यायावतार" में अपने स्वतंत्र विचारों का परिचय देते हुये आगम के विपरीत तीन प्रमाण माने - प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। साथ ही उन्होंने तार्किक ढंग से अनेकांतवाद की भी प्रतिष्ठा की। उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने जैन न्यायशास्त्र की चर्चा प्रमाण निरूपण में ही समाप्त नहीं की वरन् नयों का लक्षण और विषय बताकर जैन न्यायशास्त्र की विशेषता की ओर भी दार्शनिकों का ध्यान खींचा।

उपर्युक्त दो परम्पराओं के अतिरिक्त जैन दर्शन में हमें ज्ञान की एक और परम्परा मिलती है - नय परम्परा। यह न आगम परम्परा है, न न्याय परम्परा; बल्कि लोक परम्परा है। यह नय विचार लोक मत और सामान्य भाषा के जो आधुनिक दर्शन हैं उनकी कोटि का है। इस रूप में जैन ज्ञान-मीमांसा में कई अत्याधुनिक विचारों का समावेश हो जाता है।

जैन दार्शनिक ज्ञान को नय और प्रमाण रूप मानते हैं। नय ज्ञान को

कोण उपस्थित करते हैं । चाहे उत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाये अथवा मूल्यांकन की दृष्टि से, जैन सत्य को परिस्थिति सापेक्ष मानते हुये सत्यता-संभाव्यता को बनाये रखते हैं । इनका नयवाद इसी सत्य प्रापिकता के सिद्धांत का प्रतिपादन करता है जो इनकी ज्ञान-मीमांसा में प्रमुख है ।

नयवाद के रूप में - इतना व्यापक दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है कि इसमें एक ही वस्तु को जानने के सभी संभावित मार्ग पृथक-पृथक नय के रूप में शामिल हो गये हैं । सभी मत (नय रूप में) पूर्ण सत्य को जानने के भिन्न-भिन्न उपाय हैं । वस्तु ज्ञान को अपेक्षाभेद पर निर्भर माना गया है इसलिये सभी मतों को यहाँ एक दृष्टिकोण माना गया है और किसी मत का सर्वथा खंडन नहीं किया गया है । एक ही वस्तु के विषय में विविध मत संभव है अतः उतने नय हो सकते हैं किन्तु सभी नयों का समावेश द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दो नयों में संभव मानते हैं । आचार्य सिद्धसेन ने अद्वैतवादों को द्रव्यार्थिक नय के संग्रह नय में समाविष्ट किया । बौद्धों की दृष्टि को पर्यायनय में ऋजुसूत्र नय के अन्दर माना और सांख्य का समावेश द्रव्यार्थिक नय में एवं वैशेषिक दर्शन को दोनों नयों में समाविष्ट माना ।

नयों की तरह निक्षेपों के द्वारा भी जैनों ने विरोध समन्वय का प्रयास किया । निक्षेप योजना जैनों की नयों की तरह ही मौलिक योजना है । आगम युग में अनुयोग द्वार में निक्षेप को नय के साथ स्वतंत्र स्थान मिला जबकि प्रमाण को नहीं मिला । न्याय युग में भी प्रायः सभी तार्किकों ने तत्त्व-निरूपण में प्रमाण और नय के साथ ही निक्षेप का भी विचार किया ।

जैनों की इस ज्ञान-मीमांसा से स्पष्ट होता है कि जैन तार्किकों को यह स्पष्ट हो चुका था कि प्रत्येक मत में कुछ पूर्वाग्रह होते हैं । दर्शन एक व्यवस्था नहीं है, क्योंकि यदि एक व्यवस्था है तो उसकी विरोधी व्यवस्था भी है । कोई भी मत एकान्त रूप से सत्य नहीं है । उनके विचारों से स्पष्ट होता है

कि दर्शन एक संप्रत्यय या स्पष्टीकरण है । ऐसा ही विट्गेन्स्टाइन ने भी कहा कि दर्शन विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण एवं विश्लेषण है । विश्लेषण की सबसे बड़ी उपलब्धि यह ही है कि यह किसी व्यवस्था को न मानकर विशिष्ट मतों की स्थापना करता है । यह ही नयवाद की उपलब्धि है । जहाँ तक कोई संप्रत्यय मत है वहाँ तक ठीक है किन्तु जहाँ उसे एक व्यवस्था के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया जाता है वहाँ वह मिथ्या दुर्नय हो जाता है । इसी कारण जैन ज्ञान- मीमांसा में नयवाद को प्रमुख स्थान दिया गया ।

जैनों की ज्ञान-मीमांसा के अध्ययन से स्पष्ट होगा कि उनकी एक ज्ञान मीमांसा नहीं है । आगम, न्याय व नय तीनों भिन्न दृष्टिकोण हैं जिनका समन्वय नहीं हो सकता । दृष्टिकोणों की इसी भिन्नता का परिणाम है कि कहीं इनकी ज्ञान-मीमांसा आधुनिक वास्तववाद, बुद्धिवाद और अनुभववाद के समीप लगती है तो कहीं प्रत्ययवाद और अध्यात्मवाद के समीप और कहीं सापेक्षवाद और व्यवहारवाद के समीप । जहाँ तक ज्ञान की विषयता का प्रश्न है जैन यथार्थवादी एवं वस्तुवादी व्याख्या करते प्रतीत होते हैं, सत्यता के प्रश्न पर सापेक्षवादी व्यावहारवादी मत के समर्थक और सर्वज्ञता के प्रश्न पर अध्यात्म-वादी दर्शन के समीप लगते हैं । अतः इनकी एक ज्ञान-मीमांसा नहीं है ।

ज्ञानप्रकारों को एक ज्ञान के स्तर के रूप में नहीं माना जा सकता । इस रूप में इनका समन्वय असंभव है । वास्तव में, जैन दार्शनिक सभी ज्ञानों का समन्वय भी नहीं करते हैं । वे दिखाते हैं कि ज्ञान के विविध प्रकार हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है किन्तु समन्वय कैसे होता है यह स्पष्ट नहीं करते । विरोध परिहारमात्र समन्वय नहीं है । फिर एक में ऐसा विरोध नहीं है कि एक है तो दूसरा नहीं है । यह ही कारण है कि यहाँ ज्ञान की कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी गई जो सभी ज्ञानों में लागू होती हो । कहीं आगम के अनुसार परिभाषा दी गई तो कहीं तार्किक परिभाषा और कहीं नय के अनुसार।

अन्त में, मैं अपने शोध-निर्देशक डा० संगमलाल पाण्डेय, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रति श्रद्धा से अभिभूत हूँ कि यह शोध-प्रबन्ध उन्हीं के मार्गदर्शन के कारण संभव हो सका । उनका पितृवत् स्नेह मुझे सदैव प्रेरित करता रहा है । उन्होंने अपने व्यस्ततम क्षणों में भी सदैव मेरे विषय की सूक्ष्मताओं की जानकारी दी ।

साथ ही, मैं उन सभी की भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस शोध-प्रबन्ध के लेखन और प्रस्तुतीकरण में किसी भी रूप में सहायता प्रदान की है ।

अल्पना अग्रवाल
(अल्पना अग्रवाल)

स्थान : इलाहाबाद
दिनांक : 11 सितम्बर, 1987

------::0::------

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि अल्पना अग्रवाल ने डाक्टर आफ फिलासफी की उपाधि के लिए कला संकाय के अन्तर्गत मेरे निर्देशन में "जैन ज्ञान-मीमांसा एवं समकालीन विचार" विषय पर कार्य किया है। यह कार्य विश्वविद्यालय के नियमों के अनुसार किया गया है तथा शोधकर्त्री के पास इसके लिए आवश्यक योग्यता है।

(डा० संगमलाल पाण्डेय)
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद।

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ संख्या
आमुख		i - vi
प्रथम अध्याय	प्रमाण का तार्किक विश्लेषण	001 - 026
द्वितीय अध्याय	प्रत्यक्ष प्रमाण	027 - 050
तृतीय अध्याय	केवल ज्ञान-नवीन-परिप्रेक्ष्य	051 - 060
चतुर्थ अध्याय	परोक्ष प्रमाण	061 - 085
पंचम अध्याय	प्रमाण, नय और निक्षेप	086 - 110
षष्ठ अध्याय	अनुमान	111 - 130
सप्तम अध्याय	दर्शन की समग्रता	131 - 145
अष्टम अध्याय	मिथ्यात्व सिद्धान्त	146 - 165
संदर्भ ग्रन्थ सूची		166 - 171

प्रथम - अध्याय

प्रमाण का तार्किक विश्लेषण

प्रथम - अध्याय

प्रमाण का तार्किक विश्लेषण

प्रमाण-चर्चा :

भारतीय दर्शन के अधिकांश सम्प्रदायों में प्रमाण के विषय में विस्तृत चर्चाएँ की गयी हैं। डॉ० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनुसार "प्रमाण" शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो रूपों में किया गया है - एक तो असत्य और भ्रमपूर्ण मानसिक ज्ञान के विपरीत सत्य मानसिक ज्ञान के अर्थ में, और दूसरे, ज्ञान को उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के संग्रह या माध्यम के रूप में।[1] प्रत्येक दर्शन का ज्ञान के सम्बन्ध में विशिष्ट दृष्टिकोण ही प्रमाण के इन दोनों अर्थों के विषय में मतभेद होने का कारण है।

जैन दर्शन में प्रमाण का संप्रत्यय अन्य दर्शनों के संप्रत्ययों से भिन्न है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए जैन दर्शन में दो युगों - प्राचीन युग और आधुनिक युग का उल्लेख किया जा सकता है। प्राचीन युग, जिसे आगम युग भी कहा जा सकता है, में प्रमाण के विषय में विशेष चर्चा नहीं की गयी है। यद्यपि उस युग में भी अन्य दर्शनों में प्रमाण-चर्चाएँ चलती थीं और जैन दार्शनिक उनसे अनभिज्ञ नहीं थे, फिर भी उन्होंने अपने मौलिक ज्ञान-सिद्धान्त में प्रमाण को स्थान नहीं दिया। इतर दर्शनों में सामान्यतः सत्य और असत्य ज्ञान का भेद प्रदर्शित करने के लिए प्रमाण का आश्रय लिया गया है। इसके विपरीत, जैन दार्शनिकों ने सत्य और असत्य ज्ञान में ही भेद स्थापित करके प्रमाण का प्रयोजन ज्ञान द्वारा ही पूरा कर लिया। इस कारण आगम युग में "प्रमाण-चर्चा" ज्ञान-चर्चा के अन्तर्गत ही है।

फिर भी, जैन दार्शनिक अन्य दर्शनों में चलती प्रमाण-चर्चा से अप्रभावित हुए बिना नहीं रहे हैं। यही कारण है कि यत्र-तत्र दोनों आगमिक ग्रन्थों में "प्रमाण" और "ज्ञान" दोनों शब्दों का प्रयोग होता रहा। यहाँ इसके उल्लेख का प्रयोजन इतना मात्र दिखाना है कि जैन-दर्शन में ज्ञान से पृथक करके प्रमाण का विवेचन नवीन

युग में ही हुआ है, जिसे न्याय-युग भी कहा जा सकता है । इस विषय पर विस्तृत विवेचन दलसुख मालवणियाँ जी ने किया है ।[2]

"ज्ञान" और "प्रमाण" में क्या संबंध है ?" - इस विषय पर स्पष्ट विचार उमास्वाति के ग्रन्थ में मिलता है । उन्होंने ही सर्वप्रथम "ज्ञान" और "प्रमाण" का स्पष्ट संबंध स्थापित किया[3] और कहा कि "ज्ञान" ।मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। ही प्रमाण है ।[4] अतः उन्होंने "ज्ञान" और "प्रमाण" में अभेद संबंध स्थापित किया ।

उमास्वाति के पश्चात् अधिकांश जैन - विचारकों ने उनके मत का अनुसरण किया जिसके परिणामस्वरूप "ज्ञान" और "प्रमाण" में सामंजस्य स्थापित हो गया ।

प्रमाण - लक्षण :

अकलंक देव के अनुसार - प्रमाण शब्द "भाव, कर्तृ और करण" इन तीनों अर्थों में प्रयुक्त होता है । जब भाव की प्रधानता होती है तो प्रमा को प्रमाण कहते हैं, कर्तृ अर्थ में प्रमातृत्व-शक्ति की प्रधानता होती है जबकि करण अर्थ में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की भेद विवक्षा होती है । इनमें से विवक्षानुसार अर्थ ग्रहण किया जाता है ।[5]

प्रमाण के भावसाधन और कर्तृ-साधन के रूप पर कुछ आपत्तियाँ उठाई गयीं थीं जिनका समाधान अकलंक ने किया है ।

यदि प्रमाण को भाव-साधन के अर्थ में लिया जाये तो चूँकि प्रमा ही प्रमाण है और प्रमा ही फल है अतएव, प्रमा के फल होने के कारण प्रमा के फल का अभाव हो जायेगा । इस शंका का समाधान करते हुए अकलंक कहते हैं कि आत्मा को इन्द्रियों

द्वारा जो ज्ञान होता है वही उसका फल है । अतः प्रमाण का मुख्य फल अज्ञान-निवृत्ति ही है ।[6]

प्रमाण को यदि कर्तृ - साधन माना जाय तो प्रमाण प्रमाता - रूप हो जाता है । अन्य शब्दों में, प्रमाता आत्मा अर्थात् गुणी और उसका गुण - रूप ज्ञान भिन्न-भिन्न होंगे क्योंकि गुणी और गुण में भेद होता है । परन्तुऐसी धारणा जैन - दर्शन के उस आधारभूत सिद्धांत के विपरीत जाती है जिसके अनुसार ज्ञान आत्मा से पृथक नहीं है । इस संदर्भ में अकलंक का कहना है कि आत्मा का गुण ज्ञान है । ज्ञान और आत्मा अपनी स्वाभाविक पूर्ण-अवस्था में एक-दूसरे से पृथक नहीं रह सकते। यदि ज्ञान को आत्मा से सर्वथा भिन्न माना जाता है तो आत्मा "घट" की तरह "अज्ञ" - ज्ञानशून्य जड़ हो जायेगी ।[7] कुंदकुंद का कथन है कि यदि ज्ञानी और ज्ञान को सदा एक दूसरे से भिन्न पदार्थान्तर माना जायेगा तो दोनों अचेतन हो जायेंगे । क्योंकि ज्ञान के बिना आत्मा नहीं रह सकती । अतः ज्ञान आत्मा है ।[8]

यदि प्रमाण और प्रमेय भिन्न-भिन्न हैं तो क्या यह संभव है कि कोई प्रमेय प्रमाण हो जाये' इसके उत्तर में, अकलंक कहते हैं कि यदि प्रमाण स्वयं अपना प्रमेय नहीं बन सकता, तो इसका अर्थ होगा उसे अपनी सत्ता सिद्ध करने के लिए दूसरे प्रमाण का सहारा लेना पड़ता है, दूसरे प्रमाण को तीसरे प्रमाण का और इस प्रकार अनवस्था-प्रसंग उपस्थित हो जायेगा । यदि ज्ञान को दीपक की तरह "स्व" और "पर" का प्रकाशक माना जाये तो प्रमाण और प्रमेय के संबंध की उपर्युक्त समस्या का हल हो जाता है ।[9] प्रमेय, निश्चित रूप से, प्रमेय ही है, किन्तुप्रमाण - प्रमाण भी है और प्रमेय भी ।[10]

पूज्यपाद का कथन है, जिस तरह दीपक घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है और अपने स्वरूप को उसी समय प्रकाशित करता है। अपने स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए दीपक को दूसरी वस्तु का आश्रय नहीं लेना पड़ता, उसी प्रकार ज्ञान "स्व" और "पर दोनों को प्रकाशित करता है ।[11] आशय यह ही है कि प्रमाण वस्तुतः प्रमाण और

प्रमेय दोनों ही है ।

सिद्धसेन प्रमाण के कई अर्थ बतलाते हैं । उनका कथन है कि कर्त्ता-कारक में प्रमाण का अर्थ आत्मा, कर्म-कारक में पदार्थ, करण-कारक में ज्ञान, सम्प्रदान-कारक में अर्थ-क्रिया, अपादान-कारक में कारण-कलाप, अधिकरण-कारक में क्षयोपशम और भाव-साधन में प्रमिति होता है । प्रमाण के इन सात अर्थों में प्रमाण का अभीष्ट अर्थ ज्ञान है, क्योंकि अन्य अर्थों की परीक्षा ज्ञान पर निर्भर है । अतः ज्ञान ही प्रमाण है "प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्" यही प्रमाण का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है ।[12]

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि प्रमाण का अभीष्ट अर्थ ज्ञान है तो प्रमाण के इन सात अर्थों को मानने का औचित्य क्या है? इस प्रश्न का समाधान जैन-दर्शन के "अनेकान्तवाद" में पाया जाता है, जहाँ वस्तु को अनन्त-धर्मात्मक माना गया है । अतः जहाँ पर प्रमाण का जो अर्थ उपयुक्त हो, वहाँ पर वही अर्थ लिया जाये । यहाँ जिसके द्वारा ठीक-ठीक जाना जाये उस करण साधन के अर्थ में "ज्ञान" प्रमाण का लक्षण हो सकता है । ज्ञान के द्वारा ज्ञाता वस्तु को जानता है । यह ज्ञान आत्मा में रहता है इसलिए यह आत्मा का धर्म है । अतः ज्ञान आत्मा से अभिन्न है ।

ज्ञान की प्रमाणता:

जैन-दर्शन सिद्धान्ततः प्रमाण को कई अर्थों में प्रयोग करता है लेकिन फिर भी उसको मुख्यतः ज्ञान के अर्थ में ही प्रयोग करता है । परन्तु ऐसा मानने का कारण क्या है? इसे स्पष्ट करने के लिए प्रमाण का लक्षण जानना अपेक्षित है । पूज्यपाद का कहना है, जो अच्छी तरह ज्ञान प्राप्त कर लेता है या जिसके द्वारा ज्ञान अच्छी तरह जान लिया जाता है या जो प्रमिति है वह प्रमाण है ।[13] अकलंकदेव का कथन है, जो प्रमा का साधकतम कारण हो या जिसके द्वारा अच्छी तरह से जाना जाता

है, वह प्रमाण है।[14]

माणिक्यनन्दि के विचार में - हेय (त्याज्य) एवं उपादेय (ग्राह्य) रूप-पदार्थों की संसिद्धि ज्ञान-प्रमाण से होती है।[15] अर्थ-संसिद्धि के प्रधान कारणभूत प्रमाण से वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। अतः स्पष्ट है कि प्रमाण का कार्य वस्तु के यथार्थ रूप को प्रदर्शित करना है। प्रमाण के इस कार्य में ज्ञान सहायक होता है। अन्य दर्शनों द्वारा - मान्य सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति, योग्यता आदि ज्ञान की उत्पादक सामग्री में तो सम्मिलित किये जा सकते हैं, किन्तु ये स्वयं अचेतन होने के कारण प्रमाण के साधकतम नहीं हो सकते।[16] प्रमाण का साधकतम-करण तो चेतन ज्ञान ही हो सकता है।

लघीयस्त्रय की विवृत्ति में इसी ज्ञान की प्रमाणता का समर्थन करते हुए अकलंक देव ने लिखा है कि आत्मा को प्रमिति-क्रिया या स्वार्थविनिश्चय में, जिसकी अपेक्षा होती है, वही प्रमाण है और वही साधकतम रूप - से अपेक्षणीय ज्ञान है।[17]

प्रमाण संप्रत्यय का विकास :

जैन दार्शनिकों की प्रमाण-विषयक परिभाषाओं का क्रमिक विकास देखने के लिए उनके ऐतिहासिक विवेचनों को देखना होगा। उमास्वाति ने सर्वप्रथम, ज्ञान और प्रमाण का स्पष्ट निरूपण किया था। अतः उमास्वाति की प्रमाण-परिभाषा का विश्लेषण आवश्यक है। इनके मत में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय-ज्ञान और केवलज्ञान, ज्ञान के प्रमाण के पाँच प्रकार हैं।[18] उमास्वाति के ही मत में सम्यक्-ज्ञान ही प्रमाण है[19] जिसका अर्थ है जो प्रशस्त हो, अव्यभिचारी हो और संगत हो।

उमास्वाति के पश्चात्वर्ती विचारकों ने प्रमाण के लक्षण में "ज्ञान" पद को

तो स्थान दिया, किन्तु उस ज्ञान के "सम्यक्" विशेषण के स्थान पर अन्य विशेषणों का प्रयोग किया । सिद्धसेन[20] ने "स्वपरावभासि" ज्ञान को प्रमाण कहा ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ज्ञान के आगे "स्वपरावभासक" और "स्वपरावभासि" जैसे विशेषण प्रयुक्त करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई । इसका कारण यह प्रतीत होता है कि अन्य दर्शनों।जैसे मीमांसा, न्याय, वैशेषिक और सांख्य। में ज्ञान को स्वप्रकाशित न मानकर पर-प्रकाशित माना गया है ।

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान की परप्रकाशिता का खंडन करने के लिए उपरोक्त विशेषणों का प्रयोग किया । जैन-परम्परा का स्पष्ट विचार है कि यदि ज्ञान स्व-संवेदी न हो तो उसे प्रमाण नहीं कहा जा सकता । ज्ञान, दीपक की भाँति, दूसरों को भी प्रकाशित करता है और स्वयं अपने को भी । ज्ञान का अर्थ ही है- वह जो स्वप्रकाशित हो । ज्ञान दीपक की भाँति जगमगाता हुआ ही उत्पन्न होता है ।[21]

सिद्धसेन ज्ञान को स्वपरावभासि विशेषण देते हुए एक अन्य विशेषण भी देते हैं - बाधाविवर्जित । सिद्धसेन के अनुसार, स्वपरावभासि और बाधाविवर्जित ज्ञान प्रमाण है ।[22] उनका कथन है कि कुछ व्यक्तियों में शारीरिक कमियाँ होती हैं जिसके फलस्वरूप उनका ज्ञान बाधायुक्त हो जाता है । इसके अतिरिक्त, तत्वमीमांसीय समस्याओं पर गलत दृष्टिकोण भी बाधक होता है । ऐसे ज्ञान को प्रमाण नहीं कहा जा सकता । इन दृष्टिकोणों के निराकरण के उद्देश्य से ही सिद्धसेन ने बाधा - विवर्जित विशेषण का प्रयोग किया है ।

अकलंकदेव ने प्रमाण का एक और नया लक्षण दिया "अविसंवादी" ।[23] उनके अनुसार अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है, क्योंकि स्वसंवेदन तो ज्ञान सामान्य का लक्षण है

प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निर्णय अविसंवाद और विसंवाद के आधार पर करना चाहिये । अकलंक - द्वारा प्रमाण के इस नवीन लक्षण का औचित्य यही है कि कोई भी ज्ञान एकान्त रूप से प्रमाण नहीं होता । चूँकि इन्द्रियाँ सीमित शक्ति वाली होती हैं, इसलिए इन्द्रियों - द्वारा प्राप्त ज्ञान सदैव सत्य नहीं होता । रेल से बाहर दिखाई देने वाले वृक्ष, मकान, पहाड़ आदि के अस्तित्व के विषय में कोई विसंवाद न होने के कारण उन चीजों का ज्ञान अविसंवादी है किन्तु चलती रेल से वृक्ष, मकान, पहाड़ आदि का चलना विसंवादी होने से अप्रमाण है । सभी भ्रमपूर्ण ज्ञान विसंवादी होने से अप्रमाण ही हैं । अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मान लेने पर अविसंवादी ज्ञान के अर्थ का स्पष्टीकरण आवश्यक है । अकलंक के अनुसार, अविसंवादी ज्ञान का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिसमें बाह्य वस्तु जैसी है वैसी ही ज्ञान में प्रकट हो जाये । अन्य शब्दों में, बाह्य वस्तु का यथावत् ज्ञान में प्रकटीकरण ही अविसंवाद है ।

इसके संबंध में, यह भी उल्लेखनीय है कि अकलंक अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण मानते हुये उसे अनधिगतार्थग्राही भी कहते हैं ।[24] प्रमाण के इस नवीन लक्षण का अभिप्राय है - ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जिसका किसी दूसरे प्रमाण से निर्णय न किया गया हो । प्रमाण का विषय "अपूर्व" है ।

माणिक्यनन्दि अकलंक देव के प्रमाण के उपरोक्त नवीन लक्षण का समर्थन करते प्रतीत होते हैं जब वे प्रमाण को "अपूर्व" विशेषण देते हैं । साथ ही कहते हैं कि "स्व" अर्थात् अपने आपको और "अपूर्वार्थ" अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना जा सकता, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं ।[25] "अपूर्व" शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए माणिक्यनन्दि कहते हैं कि जिस पदार्थ का पहले किसी प्रमाण से निश्चय नहीं किया गया हो उसे अपूर्वार्थ कहते हैं ।[26] आगे वह यह भी कहते हैं कि केवल अनिर्णीत पदार्थ ही अपूर्व नहीं होते, बल्कि ऐसे पदार्थ भी अपूर्व होते हैं जिनको यद्यपि अन्य माध्यमों से ग्रहण किया जा चुका होता है परन्तु

फिर भी उनमें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय उत्पन्न हो गया हो ।[27]

प्रभाचन्द्र इस मत का समर्थन नहीं करते, क्योंकि उनके मत में जो भी ज्ञान अव्यभिचारादि से विशिष्ट प्रमा को उत्पन्न करता है वह प्रमाण है, चाहे वह ज्ञान अधिगतविषयक हो या अनधिगतविषयक ।

विद्यानन्दि ने कहा कि "स्व" और "अपूर्व" अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान ही प्रमाण है, चाहे वह गृहीतग्राही हो या अगृहीतग्राही । उन्होंने प्रमाण को "सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्व" विशेषण दिया और इसे ही स्वपूर्वार्थव्यवसायी माना ।

प्रमाण-लक्षण विवेचन के प्रसंग में हेमचन्द्र का उल्लेख आवश्यक है । उनका कथन है कि स्वप्रकाशी ज्ञान को प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रमाण की भाँति संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि अप्रमाण भी स्वसंवेदी होते हैं ।[28] हेमचन्द्र के मत में अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है ।[29]

प्रमाण की परिभाषाओं के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जैनदार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण के रूप में विविध पद प्रयोग किये गये, जैसे- सम्यक्, अविसंवादी, अनधिगतार्थग्राही, स्वपूर्वार्थव्यवसायी और बाधाविवर्जित, स्वपरावभासि । यहाँ स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि प्रमाण के विषय में यह मतभेद क्यों है", क्या प्रमाण की कोई सर्वमान्य परिभाषा हो सकती है" यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुतः शब्दों की इन विभिन्नताओं के पीछे सत्यता की कई कसौटियाँ छिपी हैं ।

प्रमाण की सत्यता की कसौटी :

पूर्व-विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि जैन-दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान प्रमाण

है, लेकिन चूँकि सभी ज्ञान प्रमाण नहीं माने जा सकते, इसलिये यहाँ ज्ञान के "सत्यापन" का प्रश्न उठता है। सत्यापित ज्ञान ही प्रमाण है। ज्ञान की परीक्षा किस आधार पर की जा सकती है, "सत्य" का क्या अर्थ है, इसी की व्याख्या के लिए जैन-दार्शनिकों-द्वारा सम्यक्, अविसंवादी, स्वपरावभासि, स्वपूर्वार्थव्यवसायी, अनधिगतार्थग्राही और बाधाविवर्जित आदि विविध पदों का प्रयोग किया गया है। इन मापदंडों-द्वारा ही उन्होंने "सत्य" के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। सत्यता के इन मापदंडों में आपस में कोई संगति प्रतीत नहीं होती है। यह बात यदि पाश्चात्य-दर्शन में सत्यता के स्वरूप और कसौटियों के अध्ययन के सन्दर्भ में जैन-दर्शन की सत्यता के स्वरूप और कसौटियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो अधिक स्पष्ट होगी।

पाश्चात्य-दर्शन में मुख्यतः सत्यता की तीन कसौटियाँ हैं - संवादिता (या अनुकूलता) का सिद्धान्त (Correspondence Theory), अबाधिता (अथवा सामंजस्य) का सिद्धान्त (Coherence Theory) और अर्थक्रियावादी (या उपयोगितावादी) सिद्धान्त (Pragmatic Theory)।[30]

सत्य के संवादिता सिद्धान्त के अनुसार - सत्य वह है जो यथार्थ से मेल खाये, जो वास्तविकता के अनुरूप हो। इस प्रकार, इस सिद्धान्त के अनुसार अनुकूलता को सत्य का लक्षण ही नहीं वरन् सत्यता की कसौटी भी माना गया है।

जैनदर्शन सत्यता की इस कसौटी से वहाँ सहमत प्रतीत होता है जहाँ प्रमाण का लक्षण सम्यकत्व और अविसंवादित्व माना गया है। सम्यकत्व को परिभाषित करते हुए आगम के ज्ञाताओं ने कहा है सम्यक् ज्ञान वह है जो पदार्थको न्यूनतारहित एवं अधिकतारहित ज्यों का त्यों जानता है। इसी प्रकार अविसंवादित्व का लक्षण किया गया है, वह ज्ञान जिसका तथ्य या यथार्थता से विसंवाद न हो, ऐसा ज्ञान जिसमें बाह्यार्थ की यथावत् उपलब्धि हो। बाह्यार्थ की यथावत् प्राप्ति व अप्राप्ति

पर अविसंवाद और विसंवाद निर्भर है । अतः इससे यहाँ निष्कर्ष निकलता है कि वह ही ज्ञान सत्य (यथा, दूसरे शब्दों में, प्रमाण) हो सकता है जो सम्यक् ही (उमास्वाति तथा हेमचन्द्र के अनुसार) तथा अविसंवादी हो (अकलंक के अनुसार), और वस्तु का यथातथ्य चित्रण अथवा यथार्थता की यथावत् ज्ञान में उपस्थिति ही सत्यता की कसौटी है ।

सत्य की इस कसौटी को यदि मान लिया जाये, तो इसमें कुछ कठिनाइयाँ सामने आती हैं, जैसा कि इस कसौटी को मानने वाले पाश्चात्य दार्शनिकों के सामने भी होती रही हैं । ज्ञान की यथार्थता से अनुरूपता उस तरह नहीं मापी जा सकती, जिस तरह कोई भौतिक वस्तु मापी जाती है । इसके अतिरिक्त, कोई किसी तथ्य का संवादी है । यह कैसे कहा जा सकता है? ज्ञान तथ्य के अनुकूल है यह कहना तभी सार्थक है, जबकि हमें उस तथ्य का, उस ज्ञान से, कोई स्वतंत्र पूर्वज्ञान हो चुका हो । लेकिन प्रश्न उठता है – जिसका पूर्वज्ञान हो चुका हो उसके फिर से ज्ञात होने का क्या औचित्य है? यहाँ वस्तुतथ्य का पूर्वज्ञान होना प्रमाण के अनधिगतार्थग्राही लक्षण के विरुद्ध है क्योंकि इस लक्षण के अनुसार प्रमाण का कार्य प्रमाणान्तर से अनिर्णीत अर्थ का निर्णय करना होता है । फिर यह कहना कि "पत्तियाँ हरी हैं" तथ्य के साथ संवाद रखता है जो पुनरुक्ति मात्र है, क्योंकि तथ्य स्वयं ज्ञात विषयों में हुआ करते हैं । तथ्य तथा सत्य एक बात है । अतः मात्र संवादित्व से प्रत्येक ज्ञान के सत्य की सिद्धि नहीं की जा सकती । एक तो ज्ञान का वस्तुतथ्य से संवाद स्थापित करना ही असंभव है, फिर यदि वस्तुतथ्य की हमारी धारणा गलत है तो संवाद भी गलत होगा जिसके परिणामस्वरूप मिथ्या ज्ञान भी सत्य सिद्ध हो जायेगा ।

कुछ जैन-दार्शनिकों ने प्रमाण के तीन लक्षण बताये हैं – अबाधितत्व, अव्यभिचारित्व और संगति । जैसा कि पूर्व-विवेचन से स्पष्ट हो चुका है उस ज्ञान को प्रमाण मानेंगे जिस ज्ञान की शेष ज्ञान से संगति हो । इसका आशय है कि कुछ

दार्शनिकों ने सत्यता की कसौटी संगति मानी है । पाश्चात्य-दर्शन में भी आदर्शवादी दार्शनिक जिनमें हेगेल, ग्रीन, बोसांके और ब्रैडले प्रमुख हैं, ने संगति को सत्यता की कसौटी माना है । इनके अनुसार हमारे ज्ञान की सत्यता शेष ज्ञान के साथ संगति में निहित है । यदि हमारा वर्तमान ज्ञान पूर्वज्ञान के विपरीत है तो हो सकता है कि हमारा वर्तमान ज्ञान गलत हो । यद्यपि कभी - कभी ऐसा भी होता है कि नवीन खोजों एवं अनुसंधानों - द्वारा हमारा पूर्वज्ञान गलत सिद्ध कर दिया जाता है और नवीन ज्ञान को सत्य । किन्तु यहाँ पर स्पष्ट है कि नवीन ज्ञान और पूर्वज्ञान में संगति स्थापित कर दी गयी और दोनों में विरोध समाप्त कर दिया गया । इसका तात्पर्य है कि किसी भी स्थिति में बाधित ज्ञान सत्य नहीं माना जा सकता । ज्ञान में संगति, ज्ञान की सत्यता के विश्वास के लिए आवश्यक है ।

इस सिद्धान्त में भी कई कठिनाइयाँ हैं । तर्कशास्त्र में अबाधिता (Non- contradiction) विश्लेषणात्मक परामर्शों की सत्यता की कसौटी है । विश्लेषणात्मक परामर्शों का अर्थ है - ऐसे परामर्श जो कोई नवीन ज्ञान तो नहीं देते हैं परन्तु उन परामर्शों में विधेय उद्देश्य का स्पष्टीकरण मात्र करते हैं । विश्लेषणात्मक परामर्श को उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं जैसे त्रिभुज के तीनों कोणों का योग दो समकोणों के योग के बराबर होता है, इस विश्लेषणात्मक परामर्श में उद्देश्य त्रिभुज के तीनों कोणों के योग से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विधेय दो समकोण के योग के बराबर होगा । किन्तु ज्ञान विधेय-द्वारा उद्देश्य के स्पष्टीकरण तक सीमित नहीं है । अतः ज्ञान को विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित नहीं किया जा सकता । ज्ञान में विधेय को उद्देश्य में कुछ नई बातें जोड़नी चाहिये । जिस परामर्श में विधेय उद्देश्य में कुछ नई बातें जोड़ता है उस परामर्श को संश्लेषणात्मक परामर्श कहते हैं ।

अतः स्पष्ट है कि यदि सत्यता की कसौटी अबाध का नियम मान लिया

जाये तो ज्ञान सिर्फ विश्लेषणात्मक परामर्शों तक सीमित रह जायेगा और सम्पूर्ण ज्ञान संदेहयुक्त हो जायेगा । पाश्चात्य-दर्शन में डेविड ह्यूम ने इसी प्रकार मात्र अबाध-नियम को सत्य की कसौटी मानकर सम्पूर्ण ज्ञान को संदेहयुक्त सिद्ध किया था । ह्यूम के पश्चात्वर्ती जर्मन दार्शनिक इमैन्युअल कांट ने ह्यूम के मत का तर्कपूर्ण खंडन कर दिया था । कांट ने दिखाया कि संश्लेषणात्मक परामर्शों की सत्यता पर संदेह नहीं किया जा सकता । ज्ञान सिर्फ यह नहीं है कि "चौकोर गोल नहीं है", वरन् इस ज्ञान की सत्यता में किंचित संदेह नहीं किया जा सकता कि अमुक मेज एक विशिष्ट आकार और विशिष्ट रंग की है । अबाधिता के नियम को सत्यता की कसौटी क्यों माना जाये ?

यदि संगति और अबाधिता को ज्ञान की सत्यता की कसौटी माना जाये तो जिस प्रकार सत्य ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार असत्य ज्ञानों में सामंजस्य स्थापित करके असत्य ज्ञानों का समूह बना लेना असंभव न होगा । सिद्धसेन ने बाधाविवर्जित ज्ञान को प्रमाण माना, किन्तु अबाधित्व और सत्यता में कोई अनिवार्य संबंध नहीं किया जा सकता । हम आकाशकुसुम की कल्पना कर सकते हैं, इस कल्पना में कोई बाधा नहीं है क्योंकि आकाश भी सत् है और कुसुम भी सत् है, लेकिन क्या इससे आकाश-कुसुम की सत्यता सिद्ध की जा सकती है ? रेगिस्तान में कहीं-कहीं पानी का भ्रम होता है, उस समय उस ज्ञान में कोई बाधा नहीं प्रतीत होती किन्तु पास जाने पर वह पानी का ज्ञान भ्रम सिद्ध होता है । तात्पर्य यह है कि संगति और अबाधिता को सत्य की कसौटी मानने पर सत्य और भ्रमपूर्ण ज्ञानों में अंतर नहीं किया जा सकता क्योंकि भ्रमपूर्ण ज्ञानों में भी संगति स्थापित की जा सकती है ।

माणिक्यनन्दि द्वारा बताये गये प्रमाण के लक्षण का विश्लेषण करने पर सत्यता की एक अन्य कसौटी सामने आती है – अर्थक्रियावादी कसौटी । इस कसौटी के अनुसार कोई ज्ञान तभी सत्य कहा जा सकता है जब मानव-व्यवहार

द्वारा और निरीक्षण-परीक्षण द्वारा उस ज्ञान को परख लिया जाये । डिवी के अनुसार सत्य का केवल एक अर्थ है - परीक्षित । अर्थक्रियावादी विलियम जेम्स के अनुसार केवल उन्हीं प्रत्ययों को सत्य कहा जा सकता है, जो प्रयोग द्वारा प्रमाणित किये जा सकते हैं । इससे स्पष्ट है कि ज्ञान अनुभवाश्रित परीक्षण के पश्चात् ही सत्य सिद्ध होता है ।

माणिक्यनन्दि इसी अर्थक्रियावादी कसौटी का समर्थन करते हैं, जब कहते हैं कि हेय(त्याज्य) और उपादेय(ग्राह्य) स्वपदार्थों की संसिद्धि ज्ञान प्रमाण से होती है ।[31] अर्थसंसिद्धि के प्रधान कारणभूत प्रमाण से वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है । उनके अनुसार प्रमाण हित की प्राप्ति एवं अहित के परिहार में समर्थ होता है । प्रमाण के द्वारा वस्तु का परीक्षण किया जाता है, जिससे उपादेय और हेय पदार्थों का ज्ञान होता है । अतः माणिक्यनन्दि के विचारानुसार ज्ञान तब तक सत्य नहीं होता जब तक उसकी पुष्टि संतोषजनक परिणामों की ओर न ले जाये । सन्तोषजनक कार्यगत होना सत्यता की कसौटी है । विलियम जेम्स का कहना है कि वास्तविक विचार वही होते हैं जिन्हें हम समझ सकते हैं, लागू कर सकते हैं, जिनकी पुष्टि की जा सकती है और जिन्हें प्रमाणित किया जा सकता है ।[32] विचार घटनाओं द्वारा सत्य बना दिया जाता है । यथार्थ प्रत्यय मानव के लिये उपयोगी होता है । उपयोगिता के मानदंड द्वारा यथार्थ प्रत्ययों की रचना की जाती है ।

इस सिद्धान्त में भी कठिनाइयाँ हैं । सर्वप्रथम तो सत्य का निर्णय सदैव परीक्षण नहीं होता, दूसरे, उपयोगिता की अनुभूति में भ्रम हो सकता है । इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि जो उपयोगी है वह यथार्थ है । कभी किसी परिस्थिति में झूठ बोलना उपयोगी हो सकता है, किन्तु इस उपयोगिता से उस झूठ की यथार्थता सिद्ध नहीं की जा सकती । उपयोगिता और सत्यता में अनिवार्य संबंध नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि प्रमाण सत्यता की कसौटी पर परखा हुआ ज्ञान है। प्रमाण ज्ञानमात्र नहीं है, अपितु परीक्षित ज्ञान है, सत्यापित ज्ञान है। ज्ञान उत्पन्न होते ही प्रमाण नहीं बन जाता, वह प्रमाण तभी बनता है जब उसे सत्यता की किसी कसौटी पर कसकर यथार्थज्ञान का रूप प्राप्त हो जाये। वह मात्र प्रत्यक्ष नहीं अपितु पुनर्निरीक्षित प्रत्यक्ष है, किन्तु यदि ऐसा है तो यह प्रमाण के अनधिगतार्थग्राही और अपूर्वार्थग्राही इस लक्षण के विरुद्ध होगा।

अकलंकदेव ने प्रमाण का एक लक्षण दिया - "अनधिगतार्थग्राही" और माणिक्यनन्दि ने भी प्रमाण का एक लक्षण दिया - "स्वापूर्वार्थव्यवसायी"। अकलंक के अनुसार, अनधिगत का अर्थ है ऐसा ज्ञान प्रमाण होगा जो प्रमाणान्तर से अनिर्णीत अर्थ का निर्णय करे। इसी प्रकार माणिक्यनन्दि के "स्व" अर्थात् अपने और "अपूर्वार्थ" अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से नहीं जाना गया है, ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहा है। यदि प्रमाण के ये "अपूर्व" और "अनधिगत" विशेषण मान लिये जाते हैं तो इसका अर्थ हुआ कि प्रमाण सत्यापित ज्ञान नहीं वरन् प्रत्युत ऐसा ज्ञान है जिसको पहले किसी प्रमाण से नहीं जाना गया है। अतः प्रमाण के लक्षण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। प्रमाण के लक्षण सम्यक्त्व और अनधिगतार्थग्राहित्व में स्पष्ट रूप से विरोध परिलक्षित होता है। प्रमाण का लक्षण सम्यक्त्व मानने पर प्रतीत होता है कि ज्ञान को प्रमाण मानने के पूर्व सत्यता की किसी कसौटी पर परखा जा चुका है किन्तु अनधिगतार्थग्राहित्व को प्रमाण का लक्षण मानने पर प्रतीत होता है कि ऐसे ज्ञान को प्रमाण माना गया है जिसकी पहले परीक्षा नहीं की गयी है।

इस प्रकार जैन-दार्शनिकों के प्रमाण के लक्षण विवेचन से स्पष्ट होता है कि इनके द्वारा प्रमाण के लक्षण-कथन में सत्यता की विविध कसौटियों को माना गया। साथ ही, पाश्चात्य-दर्शन की सत्यता की विविध कसौटियों से जैन-दार्शनिकों के प्रमाणलक्षण की तुलना करने पर नई बात सामने आई कि जहाँ पाश्चात्य-दार्शनिकों

द्वारा सत्यता की इन विविध कसौटियों को परस्पर विरोधी माना गया है और किसी एक कसौटी को ही अंतिम रूप से चुना गया वहीं जैन-दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण के रूप में एक साथ ही सत्यता ने ये विविध कसौटियाँ स्वीकार की ।

प्रश्न उठता है कि जैन-दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के लक्षण में एक साथ सत्यता की ये विविध कसौटियाँ क्यों मानी गयीं ? इसका उत्तर खोजा जा सकता है । जैन-दर्शन की विशिष्ट तत्त्वमीमांसा में, जिसका अनिवार्य सार निकलता है उनकी अनेकान्तवादी दृष्टि, जो इनके सम्पूर्ण दर्शन में व्याप्त है । इस अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के अनुसार वस्तु में विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनन्तधर्म रह सकते हैं क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक है । वस्तु में जितने विरोधी धर्म हैं सब सत्य हैं क्योंकि वस्तु-विषयक सम्पूर्ण यथार्थता का ज्ञान उन विरोधी धर्मों के समन्वय में निहित है । अतः वस्तु के विषय में सभी मत उपयोगी हैं क्योंकि वे वस्तु के विविध पहलुओं का कथन करते हैं और वस्तु के विषय में सम्पूर्ण सत्य को जानने में सहायक होते हैं । वस्तुओं के विषय में जो नाना मत-मतान्तर हैं, उनका कारण वस्तु का अनेक धर्मात्मकस्वरूप है ।[33]

जैन-दर्शन के अनुसार, वस्तु को द्रव्य और पदार्थ दोनों ही दृष्टियों से देखा जाना अपेक्षित है ।[34] द्रव्य की दृष्टि से वस्तु स्थिर प्रतीत होती है । वस्तु में जो अपरिवर्तनशीलता प्रतीत होती है उसका कारण द्रव्य है । किन्तु वस्तु में नित्य नये परिवर्तन होते रहते हैं, जिनका कारण वस्तु के अनन्त पर्याय हैं, जो सदैव परिवर्तन उत्पन्न करते हैं । अतः वस्तु के विषय में जो नाना दृष्टिकोणों की विविधता दिखायी पड़ती है वह सम्भव है क्योंकि पर्याय वस्तु में प्रतिक्षण परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं । वस्तुओं की अनन्तधर्मात्मकता के इस सिद्धान्त को तार्किक रूप से स्याद्वाद और सप्तभंगीनय के रूप में व्यक्त किया गया है ।[35]

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह है कि पाश्चात्य - दार्शनिक वस्तु और सत्यता की एक कसौटी मानते हैं और दूसरी कसौटी को उस कसौटी का विरोधी

सिद्ध करते हैं क्योंकि उनके मत में सत्ता का स्वरूप अपरिवर्तनशील है । इसके विपरीत, जैनदार्शनिक वस्तु का विवेचन एक विशिष्ट रूप में करते हैं, वस्तु-विषयक सभी दृष्टियाँ उस विशिष्ट दृष्टिकोण के संबंध में सत्य हैं । सभी दृष्टियाँ सत्य को जानने के सम्भावित माध्यम हैं । इससे सिद्ध होता है कि जैन-दार्शनिकों द्वारा प्रमाण के जो विभिन्न लक्षण दिये गये हैं वे सम्भव हैं क्योंकि वस्तु में विभिन्न गुण संभव हैं ।

वस्तु के विरोधी धर्मों को सत्य सिद्ध करने वाला उपर्युक्त सिद्धांत तार्किक दृष्टि से सन्तोषप्रद नहीं हो सकता । अतः तार्किक दृष्टिकोण से इस विवेचन को यहीं समाप्त नहीं किया जा सकता । वस्तु के ज्ञान की उत्पत्ति की दृष्टि से प्रमाण के ये विरोधी लक्षण संभव हो सकते हैं क्योंकि वस्तु के विषय में व्यक्तियों का अपना व्यक्तिगत विशिष्ट दृष्टिकोण हो सकता है, वस्तुओं को ग्रहण करने का व्यक्ति का अपना तरीका हो सकता है, वस्तु के ज्ञान की व्यक्ति की सीमायें हो सकती हैं जो वस्तु के विषय में व्यक्ति को एक विशिष्ट दृष्टिकोण बनाने को बाध्य कर सकती हैं किन्तु ज्ञान की सत्यता की दृष्टि से सभी दृष्टियों को सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि वस्तुओं का सत्य परिवर्तनशील नहीं है । वस्तु का सत्य वस्तु की आन्तरिक विशिष्टता होती है जो दृष्टिकोणों की विविधता के साथ नहीं बदल जाती । सत्य व्यक्तिगत नहीं वरन् सार्वभौमिक होता है जो प्रत्येक जानने वाली बुद्धि के लिये सत्य होता है । आकाश में तारों का अस्तित्व और बगीचे में गुलाब का अस्तित्व किसी व्यक्ति के ज्ञान पर निर्भर नहीं है । यह संभव है कि व्यक्ति उस गुलाब को अपने तरीके से जाने और विशिष्ट रूप में जाने लेकिन इससे गुलाब के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं आता । इस प्रकार, व्यक्ति का वस्तु-सत्य को ग्रहण करने का तरीका विशिष्ट-व्यक्तिगत हो सकता है, किन्तु इससे वस्तु-सत्य व्यक्तिगत नहीं हो जाता ।

अतः हमें प्रमाण की सत्यता की एक निश्चित कसौटी चाहिये जो प्रमाण

और प्रमिति दोनों को एक साथ सत्य सिद्ध करे । जो हमारे ज्ञान और ज्ञान के भिन्न दोनों की यथार्थता स्थापित करे । इस दृष्टि से "स्वपरावभासि" लक्षण प्रमाण का उपयुक्त लक्षण हो सकता है[36], क्योंकि यह लक्षण प्रमाण और प्रमिति दोनों को सत्य सिद्ध करता है । जैसा कि प्रमाण - लक्षणों के पूर्वविवेचन के प्रसंग में अकलंक देव द्वारा सिद्ध किया गया कि यदि प्रमाण को दीपक की भाँति स्व और पर का प्रकाशक माना जाये तो प्रमाण और प्रमेय के संघर्ष की समस्या हल हो जाती है ।[37] हेमचन्द्र का कथन है कि ज्ञान प्रकाशमान रूप में ही अर्थ को प्रकाशित करता है ।[38] ज्ञान का पर प्रकाशक होने के कारण स्वप्रकाशकत्व से दीपक की भाँति कोई विरोध नहीं है । जानने रूप क्रिया चूँकि चेतन होता है, यही कारण है कि ज्ञान को प्रमाण माना गया है । जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता माने बिना दीपक द्वारा प्रकाशित पदार्थों की प्रत्यक्षता मानना संभव नहीं, उसी प्रकार यदि प्रमाण स्वरूप ज्ञान की स्वतःप्रकाशता न मानी जाये तो ज्ञान द्वारा ज्ञात पदार्थों की प्रत्यक्षता संभव नहीं[39] ज्ञान का गुण ही है - अपने को और वस्तु को प्रकाशित करना । ज्ञान चेतन है । इसीलिये जैन-दर्शन में ज्ञप्ति की दृष्टि से ज्ञान स्वतः प्रमाण है ।[40] ज्ञान के स्वरूप-ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य-निश्चय स्वयं होता है । ज्ञान चाहे प्रमाण हो या अप्रमाण, वह अपने स्वरूप का संवेदन करता ही है । माणिक्यनन्दि का कथन है कि कौन ऐसा व्यक्ति है जो ज्ञान से प्रतिभासित हुए पदार्थ को प्रत्यक्ष मानता हुआ भी स्वयं ज्ञान को प्रत्यक्ष न माने ।[41] जैन मत में इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष प्रमाण के स्वरूप-ग्रहण में हेतु नहीं होते, अतः ज्ञप्ति की दृष्टि से प्रमाण स्वतः होता है । अन्य दर्शनों द्वारा मान्य अज्ञान रूप सन्निकर्ष की प्रमाणता के निराकरण के लिए ही जैनों ने ज्ञप्ति की दृष्टि से ज्ञान को स्वतः प्रमाण माना है ।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या उत्पत्ति की दृष्टि से भी ज्ञान स्वतः प्रमाण है ? यदि ऐसा मान लिया जाये तो प्रत्येक ज्ञान स्वतःप्रमाण हो जायेगा । ज्ञान में अप्रमाणता का प्रश्न ही नहीं उठेगा । तब प्रथम क्षण में जब "यह सर्प है", ऐसा रस्सी

में ज्ञान होता है तो इस ज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिए । किसी वस्तु को जानना और उसकी सत्यता का निश्चय होना भिन्न स्थिति है ।

इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि अप्रमाण ज्ञान भी निश्चायक होता है । जिस क्षण रस्सी में सर्प का ज्ञान होता है उस क्षण सिर्फ यही ज्ञान होता है कि यह सर्प है । किन्तु यह ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप के विपरीत है अतः इस ज्ञान में संशय उत्पन्न हो जाता है । तब इस संशय के निराकरण की आवश्यकता पड़ती है । इसीलिए यह ज्ञान अप्रमाण बन जाता है । प्रमाण और अप्रमाण दोनों में ज्ञान का विषय वस्तु होती है किन्तु जहाँ प्रमाण-ज्ञान में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के विरोध न होने से वस्तु का यथार्थ, सत्य ज्ञान होता है वहीं ज्ञान में यदि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप समारोप उत्पन्न हो जायें तो वही ज्ञान अप्रमाण हो जाता है । यही कारण है माणिक्यनन्दि कहते हैं कि "दृष्ट" अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात भी पदार्थ समारोप हो जाने से अपूर्वार्थ हो जाते हैं । प्रमाण के लक्षण में जो "अपूर्व" पद का प्रयोग माणिक्यनन्दि द्वारा किया गया उसका अभिप्राय यह ही है कि ज्ञान के द्वारा गृहीत वस्तु का निर्णय न किया जा सके तो वह भी "अपूर्व" ही कही जायेगी । इसी कारण से प्रमाण के लक्षण-कथन में "व्यवसायात्मक" पद का प्रयोग भी किया गया है । इसका तात्पर्य है कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रूप जो समारोप है उसके विरोधी पदार्थ को जानना ही व्यवसायात्मकता है, तथा व्यवसायात्मकता के होने पर ही प्रमाणज्ञान का अविसंवादी होना संभव है ।

प्रमाण की जैन-दर्शन में तार्किक व्युत्पत्ति दी गयी है – "प्रमीयते: साधकतमं करणं प्रमाणम्" । इसका अर्थ है, जिस माध्यम से पदार्थों का ज्ञान होता है उस माध्यम को प्रमाण कहते हैं । इसका अभिप्राय है कि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता । वस्तु ज्ञान-स्वभाव है किन्तु वस्तु का अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नहीं है ।[42] ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता पदार्थ के हेतु से होती है । अतः ज्ञान की प्रमाणता, उत्पत्ति की दृष्टि से वस्तु की अपेक्षा अर्थात् परतः होती है । माणिक्यनन्दि का

कथन है कि दूर से जल भर कर आते हुये लोगों को देखकर या कमलों की सुगन्ध से कुँए और तालाब का ज्ञान होता है, किन्तु इन लक्षणों से कुँयें या तालाब का ज्ञान तो तभी संभव है जब इन लक्षणों के साथ कुँयें और तालाब का साक्षात् ज्ञान प्राप्त हो चुका हो ।[43]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जैन-दर्शन में दो अर्थों में प्रमाण और ज्ञान का विवेचन किया गया - उत्पत्ति अथवा ग्रहणशीलता और मूल्यांकन । उत्पत्ति और ग्रहणशीलता की दृष्टि से ज्ञान की विविधता और प्रकारता को माना गया है तथा दूसरी दृष्टि से ज्ञान का मूल्यांकन किया गया है । ग्रहणशीलता की दृष्टि से ज्ञान को स्वपरावभासि कहा गया है और उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष वर्गों में रखा गया है । मूल्यांकन में नयवाद और स्याद्वाद का सिद्धांत आता है । चाहे ग्रहणशीलता की दृष्टि से देखा जाये, चाहे मूल्यांकन की दृष्टि से सत्य को परिस्थिति-सापेक्ष माना गया है तथा "सत्यता संभाव्यता" को बनाये रखा गया है । इनके सभी सिद्धांत "सत्य-प्रायिकता" के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हैं । जैनों की ज्ञानमीमांसा को "ज्ञानमीमांसीय-सम्भाव्यतावाद" (Epistemic - Probabilism) कहा जा सकता है । यही जैन ज्ञानमीमांसा का आधारभूत स्वरूप है ।

उत्पत्ति की दृष्टि से स्पष्ट होता है कि जैनों के दृष्टिकोण में रूढ़िवादिता नहीं है क्योंकि ज्ञान को प्रत्यक्ष और परोक्ष वर्गों में बाँटते हुये भी निश्चित ज्ञान-प्रकारों का निषेध किया गया है और नवीन ज्ञान-प्रकारों की सम्भावना बनाये रखी है । वास्तव में ज्ञान-प्रकारों में भेद का आधार चेतना का विकास है, इसलिए ज्ञान को कर्म-क्षय से जोड़ा है ।[44] कर्म-क्षय के आधार पर ज्ञान की प्रकारता निश्चित की है । वस्तुतः प्रत्यक्ष और परोक्ष के बीच भेद यही कर्म-क्षय है और यही कर्म-क्षय दोनों के बीच सम्पर्क-सूत्र भी है । जैन दार्शनिकों के अनुसार, जब कर्म-क्षय हो जाता है अर्थात् "आवरणीय" क्षय होने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसी स्थिति में, जो ज्ञान होगा, वह परोक्ष होगा ।[45] यही कारण है कि यहाँ

ज्ञान में मात्रात्मक भेद माना गया है, प्रकारात्मक भेद नहीं। लक्षण-भेद ही प्रमाण-भेद का नियामक है। इसलिये जैन-दार्शनिक ज्ञान को एक और अखंड नहीं मानते। वे सभी ज्ञानों का समन्वय भी नहीं करते। वे दर्शाते हैं कि ज्ञान के विविध प्रकार हैं किन्तु उनमें विरोध नहीं है। "यही है" ऐसा आग्रह नहीं है यही "सत्य-प्राय" का रूप है।

मूल्यांकन की दृष्टि से भी यह ही सिद्ध होता है कि सत्य निरपेक्ष नहीं वरन् परिस्थिति-सापेक्ष है। इसलिये सत्यापन की जो प्रचलित कसौटियाँ हैं उनसे इन्हें सत्यापित या असत्यापित नहीं किया जा सकता। इन्हें "अनुभव की संभावनाओं" (Possibilities of experiences) के रूप में रखा जा सकता है।

यहाँ पर जैनों का सिद्धांत कार्ल पापर के "असत्यापन सिद्धांत" (Theory of Falsification) के निकट लगता है। पॉपर का मानना है कि प्रत्येक सामान्य कथन प्रसंभाव्य कथन है। वह तभी तक सत्य माना जाता है जब तक भावी उदाहरणों से असत्यापित नहीं हो जाता। इस प्रकार किसी कथन के सत्यापन का अर्थ है - उसका असत्यापित न हो पाना।[46] अतः स्पष्ट है कि जैनों का सिद्धांत पॉपर के "असत्यापन-सिद्धांत" से काफी समानता रखता है। जो सत्य है उसे कहा नहीं जा सकता, जो "सत्यप्राय" है उसे मानेंगे। इसी अर्थ में इसे ज्ञानमीमांसीय सापेक्षतावाद (Epistemic-Relativism) और ज्ञानमीमांसीय प्रसंभाव्यतावाद या सत्यप्रायिकतावाद (Epistemic-Probabilism) कहा जा सकता है।

अंत में, कहा जा सकता है कि यहाँ सत्यता का संप्रत्यय महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रमाण अर्थ का ज्ञान देता है। यहाँ पर अर्थ का निर्णय किया गया है, संप्रत्यय का मूल्यांकन नहीं। ज्ञान प्रवृत्तिपरक और फलोन्मुख होता है इसलिये वह सफल और निष्फल कहा जाता है। यहाँ जैन-दार्शनिक आधुनिक पाश्चात्य व्यवहारवाद

(Pragmatism) के काफी समीप प्रतीत होते हैं ।

वास्तव में, जैन दर्शन के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ज्ञानमीमांसा को यथोचित महत्व नहीं दिया गया है । वहाँ मूल्यों को अधिक महत्व दिया गया है । ऐसे ज्ञान प्राप्ति की बात कही गयी है जो लोक-व्यवहार में सहायक हो। ज्ञानमीमांसा में तर्क का खंडन नहीं किया जा सकता । आन्वीक्षिकी के अन्दर जैन दर्शन को नहीं रखा जा सकता है क्योंकि यह अन्ततोगत्वा तर्क का खंडन करता है । इसके अनुसार, कोई तरीका (system) संभव नहीं है ।

सन्दर्भ और टिप्पणी

1. दी हिस्ट्री आव इंडियन फिलासफी, भाग दो, डा0 सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, केम्ब्रिज, 1923, पृ0 412.

2. आगम युग का जैन दर्शन, श्री दलसुख मालवणिया, श्री सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा, 1966, पृ0 129.

3. मतिश्रुताऽवधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।
   तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, सं0 पं0 सुखलाल संधवी, भारत जैन महामंडल, वर्धा, 1932, 1.9

4. तत्प्रमाणे ।
   वही 1.10

5. तत्त्वार्थवार्तिक भाग एक अकलंक, सं0पं0 महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1953, 1.10-1.

6. वही 1.10-6-7.

7. वही 1.10-8-9.

8. पञ्चास्तिकायसमयसार, कुंदकुंद, निर्णयसागर प्रेस बंबई, 1916, गाथा, 48. 49.

9. तत्त्वार्थवार्त्तिक 1.10-12.

10. वही 1.10-14.

11. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, सं0पं0 फूलचन्द्र जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1955, 1-9-9.

12. न्यायावतार, सिद्धर्षिकी टीका

13. प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्, सर्वार्थसिद्धि 1.10-10.

14. तत्त्वार्थवार्तिक, पृ0 297.

15. परीक्षामुख, माणिक्यनन्दि, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, 1940, 1.2

16. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, अंग्रेजी अनुवाद, सत्कारि मुकर्जी, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, 1970, 1.8

17. न्यायकुमुदचन्द्र, (अकलंक की लघीयस्त्रय पर टीका) प्रभाचन्द्र, सं0 पं0 महेन्द्र कुमार जैन, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन सीरीज, बंबई, 1938, 1.3

18. मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ।
तत्त्वार्थसूत्र, 1.9

19. तत्प्रमाणे । वही 1.10

20. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम् ।
न्यायावतार वार्तिक, सिद्धसेन, सिंघी जैन-ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई 1949, 1.2

21. प्रदीपवत् ।
परीक्षामुख, 11, 12.

22. न्यायावतार, 1,2.

23. अष्टसहस्री, (अकलंक की अष्टशती पर टीका) विद्यानन्दि, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1915, पृ0 175.

24. वही, पृ0 175.

25. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकज्ञानं प्रमाणम् ।
परीक्षामुख, 1.1

26. अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।
परीक्षामुख, 1.4

27. दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।
वही, 1.5

28. प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, 1.3

29. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम् ।
वही, 1.1.2

30. Dictionary of Philosophy, Edited by DOGOBert D. RUNES, Philosophical library, Newyork, 1942, Page 321, 322.

31. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत् ।
परीक्षामुख, 1.2

32. Pragmatism, William James, p. 133.

33. पंचास्तिकाय, गाथा - 8.

34. द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु ।
प्रमाणमीमांसा, 1.30
गुणपर्ययवद्द्रव्यम्, तत्त्वार्थसूत्र, 3.38

35. पंचास्तिकायसार, गाथा 14

36. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, वादिदेवसूरि,
जैन साहित्यविकासमंडल, बंबई, 1967, 1.2

37. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ० 187,
प्रमाणमीमांसा, पृ० 3

38. प्रमाणमीमांसा, पृ० 3.

39. तत्वार्थसूत्र, 1.10,
परीक्षामुख, 1.6-12
निर्णयसागर, जैन ग्रंथ रत्नाकर, बंबई, 1916, 11.

40. परीक्षामुख, 1.13

41. परीक्षामुख, 1.11

42. प्रमेयकमलमार्तण्ड, माणिक्यनन्दि की परीक्षामुख पर टीका, प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1941, पृ० 106.

43. परीक्षामुख, पृ० 45.

44. प्रमाणमीमांसा, 1.1.15,
प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० 283.

45. तत्वार्थसूत्र, 1.30
प्रवचनसार, कुंदकुंद, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1969, 22.

46. Boston Studies in the Philosophy of Science, edited by Coffen and Wortafsky/ Humanities Press, New York, Vol. II 1965, p. 60.

------:0:------

द्वितीय - अध्याय

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण

पिछले अध्याय में स्वपरावभासि ज्ञान ।अर्थात् ऐसा ज्ञान जो स्वयं अपने को और पदार्थ को प्रकाशित करता है। प्रमाण का उपयुक्त लक्षण प्रतीत हुआ था । इसका तात्पर्य है कि एक ज्ञान दो स्थितियों में प्रमाण होता है । एक तो जब वह अपने स्वरूप का प्रकाशन करता है और दूसरे, जब वह पदार्थों का प्रकाशन करता है। ज्ञान जब अपने स्वरूप का प्रकाशन करता है तो उस स्थिति में प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण और जब वह पदार्थों का प्रकाशन करता है तो उस स्थिति में प्रमाण को परोक्ष प्रमाण कहते हैं । अतः दो प्रकार के प्रमाण संभव हैं - प्रत्यक्ष और परोक्ष[1] । जैन-दर्शन में प्रमाण के यह ही दो प्रकार माने गये हैं ।

न्यायावतार की टीका में सिद्धर्षि ने कहा है कि ज्ञान की प्रवृत्ति दो ही प्रकार की होती है, विशद औरअविशद । इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार की ज्ञान-प्रवृत्ति नहीं हैं । अतएव प्रमाण का तीसरा प्रकार हो ही नहीं सकता[2] । विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है[3] और अविशद ज्ञान परोक्ष[4] । ज्ञान के जितने भी प्रकार हैं उन्हें विशदता और अविशदता के अन्दर रखा जा सकता है । उमास्वाति का कथन है कि अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, संभावना, अभाव और अनुपलब्धि प्रमाण के पृथक् स्रोत नहीं हैं । वे इन सब प्रमाणों को परोक्ष प्रमाण में समाविष्ट कर लेते हैं । उनका कहना है कि इनमें से अधिकांश प्रमाण वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क के कारण है ।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि जैन-दर्शन की प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषायें सामान्य परिभाषाओं से भिन्न हैं । अकलंकदेव ने स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है ।[5] स्पष्ट ज्ञान का वही अर्थ है जो विशदता का ।[6] विशदता का अर्थ है ऐसा ज्ञान जिसके प्रकाशन के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता न हो ।[7] प्रत्यक्ष का व्युत्पत्ति-मूलक लक्षण जैन-दर्शन के अनुसार यह ही है, क्योंकि यहाँ "अक्ष" शब्द का अर्थ आत्मा लिया गया है । अतः "अक्ष" अर्थात् आत्मा की अपेक्षा से जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है ।[8] किन्तु सामान्य प्रयोग में "अक्ष" का अर्थ आँख-इन्द्रिय से

लिया जाता है । अन्य दर्शनों में "अक्ष" का अर्थ इन्द्रिय ही लिया गया है, परिणाम स्वरूप उन्होंने प्रत्यक्ष का लक्षण किया है । ऐसा ज्ञान जो इन्द्रियों की सहायता से होता है । सिद्धसेन का कथन है कि इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान साक्षात् आत्मा से नहीं होता, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं है ।[9] जैन-दर्शन के अनुसार, प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य कोई शक्ति नहीं होती । इस प्रकार, यहाँ जो ज्ञान आवरणरहित केवल आत्मा के प्रतिनियम है, जो ज्ञान बाह्य-इन्द्रियादि की अपेक्षा से न होकर केवल क्षयोपशम वाले या आवरणरहित आत्मा से होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है ।

जैनदर्शन का स्पष्ट विचार है कि जिसमें तीन काल के गोचर अनन्त गुण-पर्याय संयुक्त पदार्थ अतिशयता से प्रतिभासित होते हैं उसको ज्ञानी पुरुषों ने ज्ञान कहा है । यह ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक धर्म है । यदि अग्नि को उष्ण स्वभाव न माना जाये तो अग्नि का स्वरूप क्या रह जाता है, अर्थात् कुछ स्वरूप नहीं रहता, उसी प्रकार यदि आत्मा को ज्ञानरूप न माना जाये तो इसका भी कुछ स्वरूप नहीं बचेगा ।[10] अतः ज्ञान आत्मा का तारतत्व है । आत्मा शुद्ध रूप में ज्ञान है और आत्मा ही ज्ञाता रूप में ज्ञात है । ऐसा ही अनुभव पाश्चात्य-दर्शन के महान दार्शनिक रेने देकार्त ने किया, जब उन्होंने कहा - "मैं सोचता हूँ इसलिये मैं हूँ । cogito ergo sum ।" उन्होंने कहा कि मैं अपने अस्तित्व का निराकरण करूँ फिर भी निराकर्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व का खंडन नहीं किया जा सकता है ।

आत्मा और ज्ञान के संबंध को कुन्दकुन्द ने इस प्रकार स्पष्ट किया कि ज्ञाता और ज्ञान में कोई भेद नहीं है, क्योंकि आनुभविक दृष्टि से केवलज्ञानी सम्पूर्ण वास्तविकता को जानता और अनुभव करता है तथा अतीन्द्रिय दृष्टिकोण से आत्मा को ।[11]

यहाँ पर अकलंक एक नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं । उनके अनुसार इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान भी प्रत्यक्ष ज्ञान की कोटि में रखा जा सकता है क्योंकि अकलंक के अनुसार प्रत्यक्ष का अर्थ है "स्पष्ट ज्ञान" । यह ज्ञान आत्मा के द्वारा भी उत्पन्न

हो सकता है । अकलंक प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए "अञ्जसा" विशेषण का प्रयोग करते हैं जिसका अभिप्राय है प्रत्यक्षज्ञान अपने स्वभाव से ही स्पष्ट होता है,[13] चाहे वह इन्द्रियों से उत्पन्न हो अथवा इन्द्रियों से उत्पन्न न हो ।[14]

किन्तु अकलंक आत्मा को स्वभावतः ज्ञान-स्वरूप वाला मानते हुए कहते हैं कि आत्मा जब निरावरण रूप में होता है तो उसे ज्ञान के लिए इन्द्रियादि साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह अपनी स्वशक्ति से ज्ञान प्राप्त कर लेता है । ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियादि-सहायता की आवश्यकता तो तब पड़ती है जब उसका स्वाभाविक ज्ञानमय स्वरूप ढक जाता है ।[15] उनका स्पष्ट विचार है कि जिस प्रकार चलने की शक्ति से सम्पन्न मनुष्य स्वयं चलने में असमर्थ होने पर ही लाठी आदि का सहारा लेता है उसी प्रकार ज्ञानावरण से ढक जाने पर ज्ञान-स्वभाव वाली आत्मा बाह्य-उपकरण का सहारा लेती है । बाह्य-उपकरण ज्ञान की उत्पत्ति में एक स्थितिमात्र होते हैं जिसमें स्वयं आत्मा का स्वभाव प्रकट होता है । आत्मा का ज्ञान स्वयं आत्मा की अवस्था है जिसमें बाह्य पदार्थ आभासित होते हैं, इन्हीं के आधार पर हमें बाह्य-पदार्थ का ज्ञान होता है । बाह्य-पदार्थ के अभाव में, उसके विषय में विशिष्ट ज्ञान नहीं होता । ज्ञान के रूप में स्व का प्रकाशन तो होता ही है । जब ज्ञान का स्वतः प्रकटीकरण पूर्ण होता है तब उसे किसी बाह्य पदार्थ की अपेक्षा नहीं होती और इन्द्रियादि से उत्पन्न पदार्थों के विशेष ज्ञान से उसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । तब पूर्णज्ञान केवलज्ञान अपने में सभी विशिष्ट ज्ञानों का समावेश कर लेता है ।

उपरोक्त विवेचनों से क्या यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि केवलज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञानों को मिथ्या माना जाये ? इस विषय में उमास्वाति का विचार है कि जानने की शक्ति चेतना समान होने पर भी जानने की क्रिया-बोध उपयोग सब आत्माओं में समान नहीं होता । यह उपयोग की विविधता बाह्य-आभ्यन्तर कारण की विविधता पर अवलम्बित है ।[16] विषयभेद, इन्द्रियादि साधन भेद, देशकालभेद इत्यादि विविधता बाह्य सामग्री की है । आवरण की तीव्रता-मन्दता का तारतम्य

आन्तरिक सामग्री की विविधता है । इस सामग्री की विभिन्नता के कारण एक ही आत्मा में भिन्न-भिन्न समय में विभिन्न बोधक्रियायें होती हैं तथा अनेक आत्मायें एक ही समय में भिन्न-भिन्न बोध करती हैं । यह बोध की विविधता अनुभवगम्य है ।

केवलज्ञान सामान्य ज्ञान है । इसी सामान्य-ज्ञान के आवरण भेद से 5 भेद हैं । जैनदार्शनिकों की इस परिकल्पना के अनुसार, केवलज्ञानावरण ज्ञान सामान्य को पूरी तरह ढक लेता है फिर भी उससे द्रव्यों को जानने वाली ज्ञानकिरणें निकलती रहती हैं । इन्हीं ज्ञानकिरणों के ऊपर शेष आवरण काम करते हैं । इन्हीं अन्य आवरणों की क्षयोपशम की मात्रानुसार शेष ज्ञान प्रकट होते हैं । वीरसेन के अनुसार जिस प्रकार क्षारद्रव्य से अग्नि को पूरी तरह ढक लेने पर भी उससे भाप निकलती रहती है उसी तरह ज्ञान पर आवरण पड़ते हैं, फिर भी ज्ञान का एक अंश जिसे पर्यायज्ञान कहते हैं सदा अनावृत्त रहता है । यदि वह भी आवृत्त हो जायेगा तो जीव अजीव हो जायेगा ।[17]

इसी विचार को और स्पष्ट करते हुए नन्दीसूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार सघन मेघों से आच्छन्न होने पर भी सूर्य और चन्द्र की प्रभा कुछ न कुछ आती ही रहती है । कितने ही मेघ आकाश में क्यों न छा जायें पर दिन और रात का विभाग तथा रात्रि में शुक्ल और कृष्ण पक्ष का विभाग बना रहता है । उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म से ज्ञान का अच्छी तरह आवरण हो जाने पर भी ज्ञान की प्रभा अपने प्रकाश-स्वरूप के कारण बराबर प्रकट होती रहती है । इसी मन्द प्रभा के मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ये चार भेद योग्यता और आवरण के कारण हो जाते हैं । केवलज्ञान का अनन्तवाँ भाग, जो अक्षर के अनन्तवें भाग के नाम से प्रसिद्ध है सदा अनावृत्त रहता है ।

<u>चेतना - पाश्चात्य मनोविज्ञान</u>

वस्तुतः मानव दिखाई देने वाली चेतना से बहुत अधिक है । चेतना का

सम्पूर्ण रूप या चेतना अपने सम्पूर्ण रूप में हमें दिखाई नहीं देती । चेतना के अनन्त पहलू हैं, चेतना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है । यही कारण है कि चेतना को मन, आत्मा और व्यक्तित्व का पर्याय नहीं माना जा सकता । मानवीय आत्मा का केवल दृष्टिगोचर चेतन पहलू ही सम्पूर्ण आत्मा की वास्तविकता का उद्घाटक नहीं होता । हमारे मन की कई जटिल गुत्थियों का रहस्य सिर्फ मन के इसी चेतन पहलू के आधार पर नहीं हल किया जा सकता । यही कारण है कि आधुनिक मनोविज्ञान आत्मा के इस दूसरे चेतन पहले के अतिरिक्त अचेतन और अर्द्धचेतन पहलुओं का अस्तित्व भी मानता है । प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० सिगमंड फ्रायड के मत में मन का बहुत भाग अचेतन है और इसी अचेतन पहलू को मनुष्य के व्यक्तित्व की अनेक जटिलताओं का हल माना जा सकता है ।[18] इस अचेतन पहलू में फ्रायड के मत में मनुष्य के व्यक्तित्व का रहस्य छिपा है । चेतन मन में वही कुछ आता है जिसकी वर्तमान में व्यक्ति को आवश्यकता होती है । बाकी बहुत कुछ अचेतन मस्तिष्क में पड़ा रहता है । हमारे सामान्य अनुभव में भी कभी-कभी यह दिखाई पड़ता है कि रात्रि में सोते समय मन में कोई जटिल गुत्थी होती है किन्तु सोकर उठने पर उसका कोई हल हमें सूझ जाता है । इसी प्रकार सोते समय हम एक निश्चित समय उठने का संकल्प करके सोते हैं और सामान्यतः उस निश्चित समय नींद खुल जाती है । इसका कारण अचेतन मस्तिष्क में ही खोजा जा सकता है। प्रख्यात भारतीय गणितज्ञ रामानुज का यह व्यक्तिगत अनुभव था । उनका कहना था कि गणित का कोई जटिल प्रश्न जिसका हल उन्हें नहीं सूझता था, प्रायः उसी विषय में चिन्तन करते-करते वे सो जाया करते थे तथा प्रातः उठने पर उस प्रश्न का हल उन्हें सूझ जाया करता था । फ्रायड ने भी कुछ इसी प्रकार का विचार प्रकट किया है ।[19]

जब आइन्स्टीन से उनकी सृजनात्मक प्रक्रिया का रहस्य पूछा गया तो उन्होंने उत्तर दिया कि स्वप्नावस्था और सुप्तावस्था में एक ऐसी स्थिति आती है जब बुद्धि एक लम्बी छलांग सी लगाकर बोध के उच्चतर स्तर तक पहुँच जाती है । संसार के अधिकांश वैज्ञानिक आविष्कार इसी स्थिति में संभव हुए हैं ।[20]

फ्रायड ने इस बात का अन्वेषण किया कि व्यक्ति के चेतन से स्वतन्त्र बहुत सी मानसिक क्रियायें घटित होती हैं।[21] सी0जी0 युंग ने अचेतन के गहरे स्तरों की खोज की जहाँ उन्होंने सामूहिक चरित्र की प्रतीक और प्रतिमायें पायीं। वस्तुतः आधुनिक पाश्चात्य जगत में मानवीय चेतना पर विस्तृत अन्वेषण किये गये। पर्ल, गोल्डस्टीन, मर्फी, लैविन, गुडमैन, अल्पोर्ट आदि मनोवैज्ञानिकों ने "व्यक्तित्व" के अध्ययन में चेतना के विविध स्तरों का उद्घाटन किया तथा व्यक्तित्व के विकास के लिए कई उपाय सुझायें।

इन अध्ययनों के आधार पर मानवीय व्यक्तित्व को इस रूप में प्रस्तुत किया।[22]

निम्न अवचेतन व्यक्तित्व का वह स्तर है जहाँ शारीरिक क्रियाओं को निर्देशित करने वाली प्रारम्भिक मनोवैज्ञानिक क्रियायें होती हैं। इनके अन्तर्गत मूल प्रवृत्तियाँ, निम्नकोटि के स्वप्न और कल्पनायें भी सम्मिलित हैं।

उच्च अवचेतन के क्षेत्र में उच्च अंतःप्रेरणायें और अंतःप्रज्ञा उपलब्ध होती हैं जैसे कलात्मक, दार्शनिक, वैज्ञानिक और नैतिक। इस क्षेत्र में उच्च क्रियायें और आध्यात्मिक अनुभव छिपे हैं। यह उच्च अनुभवों का उत्पत्ति स्थल है जैसे समाधि की अवस्था के अनुभव।

चेतना का क्षेत्र, व्यक्तित्व का वह भाग है जिससे हम प्रत्यक्षतः परिचित हैं। यह संवेदनाओं, प्रतिमाओं, विचारों, इच्छाओं और प्रवृत्तियों का सतत प्रवाह है जिसका हम निरीक्षण, विश्लेषण और निर्णय कर सकते हैं।

चेतन आत्मा या अहं को बहुधा चेतन व्यक्तित्व से मिला दिया जाता है किन्तु दोनों में अन्तर है। चेतना, जो विचार, संवेदन व अनुभव का बदलता हुआ तत्त्व है, चेतन आत्मा से और अहं से भिन्न है, जो हमारी चेतना का केन्द्र है,

शुद्ध आत्म-अनुभूति का केन्द्र है और जिसे केवल आत्मनिरीक्षण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है ।

वास्तव में, चेतन आत्मा भी व्यक्तित्व की अंतिम इकाई नहीं है । जब हम सो जाते हैं या अचेतन अवस्था में होते हैं तो यह चेतन आत्मा लुप्त हो गयी प्रतीत होती है और जागृतावस्था में यह भी सक्रिय प्रतीत होती है । यह तथ्य इस बात का परिचायक है कि इस चेतन आत्मा से परे, श्रेष्ठ एक स्थायी केन्द्र का अस्तित्व है । यह उच्च आत्मा व्यक्तिगत आत्मा की शारीरिक और मानसिक स्थितियों से अप्रभावित रहती है, व्यक्तिगत चेतना को इस उच्च आत्मा का मात्र प्रतिबिम्ब माना जा सकता है । मानवीय व्यक्तित्व में इस उच्च आत्मा का स्थान सर्जनात्मक है, क्योंकि व्यक्तित्व की आध्यात्मिक उपलब्धियों का यह माध्यम है ।

रेखाचित्र में जो सामूहिक अचेतन का चित्र दिखाया गया है उसका अभिप्राय विभाजन नहीं है । सीमाहीनता के अर्थ में इनका व्यवहार किया जाता है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दो आत्माओं का अस्तित्व किसी व्यक्तित्व में होता है जो अपने अपने क्षेत्र में स्थित है । आत्मा एक है जो सचेतनता और आत्मानुभूति की विभिन्न मात्राओं को प्रकाशित करती है । व्यक्तिगत आत्मा का वास्तविक आत्मा से अपरिचय ही द्वैत की अनुभूति का कारण है । व्यक्तित्व की पूर्णता इसी वास्तविक आत्मा की उपलब्धि पर निर्भर है । प्रश्न यही है कि कैसे इस आंतरिक एकता की पूर्णता तथा सामंजस्यपूर्ण आत्म-अनुभूति को प्राप्त किया जाये ।

भारतीय दर्शन में इसकी विधि योग, समाधि, ध्यान, धारणा और आत्म निरीक्षण बताई गयी है । पाश्चात्य मनोविज्ञान में इस समस्या को प्रयोगात्मक तरीके से हल किया गया है । इसका अभिप्राय यह ही है कि मानव के इस दृश्य चेतन पहलू के अतिरिक्त एक उच्चतर आत्मा का अस्तित्व मानना होगा जिसे अती-

न्द्रिय बोध क्षमता प्राप्त है।

प्राचीन ऋषियों और मुनियों ने मानव-आत्मा के महत् रूप की खोज की। उन्होंने स्पष्ट किया कि मानव अपरिमेय शक्ति का पुंज है किन्तु उसे अपने इस महत् रूप का ज्ञान आत्म-निरीक्षण से ही मिल सकता है। अन्तर्दृष्टि ही उसे यह ज्ञान करा सकती है। इस तरह से आत्मज्ञान को भारतीय दर्शन में सामान्य रूप से मुक्ति का साधन माना गया क्योंकि इनके मत में आत्मा इस विश्व का दर्पण है और जगत सूक्ष्म रूप में आत्मा में विद्यमान है। वेदों में सृष्टि को मनोमय कहने का यही अभिप्राय प्रतीत होता है। आत्मा यथार्थ रूप में विश्वात्मा है, इसी तत्त्व और क्षमता का ज्ञान प्राप्त कर लेना ही मुक्ति और पूर्णता है। महापुरुषों द्वारा आत्मा के इस दिव्य रूप के साक्षात्कार की झलक यत्र-तत्र वेदों और उपनिषदों में मिलती है।

कठोपनिषद में वर्णन आता है कि नचिकेता यम से वर माँगता है उसे आत्मतत्त्व का पूर्ण ज्ञान हो।[23] बृहदारण्यक उपनिषद् में कथा आती है जहाँ याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुए कहते हैं कि यह आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और संकल्पपूर्वक ध्यान करने के योग्य है। आत्मा के ही दर्शन, श्रवण, मनन से सारा रहस्य ज्ञात हो जाता है।[24] इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि दोषहीन संयमी लोग जिसे देखते हैं वह ज्योतिर्मय निर्मल आत्मा इसी शरीर के भीतर विद्यमान है। इसका अभिप्राय है कि हम अपने अन्दर विशुद्ध स्वरूप को देख सकते हैं।[25] इसी कारण प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने मानव आत्मा की सम्पूर्ण अन्तर्निहित क्षमताओं के पूर्ण उपयोग के लिए साधन खोजने के प्रयास किये। इसलिए भारतीय दर्शन की विधि भी आत्मनिरीक्षण, अन्तर्दृष्टि, ध्यान, समाधि और योग है।

जैन दर्शन के अनुसार, चेतन आत्मा के सहज स्वरूप का पूर्ण प्रकाशन जो ज्ञानावरणों के सम्पूर्ण विलय से होता है अतीन्द्रिय और शुद्ध अनुभूति कहलाता है।[26] आत्मा के स्वप्रकाशित रूप का ही प्रकाशन अतीन्द्रिय-अनुभूति है। इसे ही केवलज्ञान

कहा जाता है। यह सभी ऐन्द्रिय अनुभूतियों से स्वतंत्र और सब वस्तुओं को जानने वाला है।[27]

जैन दर्शन में, अतीन्द्रियज्ञान की विस्तृत रूप से चर्चा की गयी है। आत्मा के स्वरूप और स्वभाव के ऊपर किये विश्लेषण के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है, आत्मा और सत्ता में एकरूपता है। अतः ज्ञाता और ज्ञेय में भी एकरूपता है अर्थात् आत्मा ज्ञाता भी है और ज्ञेय भी। दूसरे शब्दों में, आत्मा और ज्ञान में अभिन्नता है। वस्तुतः जब ऐन्द्रिय साधनों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है तो इस प्रकार ज्ञात पदार्थ में ज्ञेय पदार्थ से भिन्नता होनी सम्भव है, क्योंकि यह ज्ञात पदार्थ इन्द्रिय, मन आदि बाह्य उपकरणों के अधीन होगा। वास्तव में, ज्ञेय पदार्थ जानने की प्रक्रिया के दौरान इन्द्रिय और मन के सम्बन्ध के कारण उनसे प्रभावित हो जाता है, किन्तु अतीन्द्रिय माध्यमों द्वारा प्राप्त ज्ञान में जहाँ इन्द्रिय और मन की मध्यस्थता नहीं होती, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय के बीच कोई व्यवधान न होने के कारण ज्ञाता और ज्ञेय में सीधा संबंध स्थापित होता है, अन्य शब्दों में, वहाँ ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भिन्नता नहीं होती।[28] अतीन्द्रिय ज्ञान में वस्तु अपने यथार्थ रूप में ज्ञान में उपस्थित होती है क्योंकि वहाँ वस्तु और ज्ञान में अपरोक्षता का संबंध है। इन्द्रिय और मन की सीमितता ही वास्तविक और ज्ञात वस्तु में भेद का कारण है।

जैन दार्शनिकों का मत है कि यदि अन्य दर्शनों की तरह प्रत्यक्ष का लक्षण मान लिया जाये, जो इन्द्रियादि बाह्य साधनों की सहायता से उत्पन्न होता है, तो उस स्थिति में सर्वज्ञता की सिद्धि सम्भव ही नहीं होगी, क्योंकि सर्वज्ञ का अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता। सर्वज्ञता प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना संभव ही नहीं है। कुंदकुंद का कथन है कि दूसरे दार्शनिक जो इन्द्रियजन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष मानते हैं किन्तु वे प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं? क्योंकि इन्द्रियाँ तो अनात्मरूप होने से परद्रव्य हैं। अतः इन्द्रियों द्वारा वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो

सकता । "पर" से होने वाले ज्ञान को परोक्ष कहते हैं ।[29]

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि बाद में चलकर कुछ जैन दार्शनिकों विशेषकर अकलंक, सिद्धसेन और माणिक्यनन्दि ने, प्रत्यक्ष का सांव्यवहारिक और पारमार्थिक दो रूपों में विभाजन कर दिया ।[30] सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का अर्थ है ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष का अर्थ है अतीन्द्रिय ज्ञान । प्रत्यक्ष का इन दो रूपों में विभाजन स्पष्टतः जैन दर्शन का उस प्रचलित परम्परा से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न है जहाँ प्रत्यक्ष का अर्थ "ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष" माना गया ।

जैन दर्शन के मौलिक विचारों के अनुसार, प्रत्यक्ष का अर्थ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ही है । "प्रत्यक्ष" शब्द का प्रयोग प्रारंभ में इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार के लिये होता था किन्तु शीघ्र ही उसके अन्तर्गत वह समस्त ज्ञान भी आ गया जो तुरन्त ग्रहण हो जाता है । भले ही उसमें इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता न भी हुई हो ।"[31]

इसी अन्तर्दृष्टि को बर्गसां ने सहजबोध के रूप में माना । बर्गसां के मत में सहजबोध उसका प्रत्यक्ष है जो अदृश्य है किन्तु फिर भी वास्तविक है । इसे ही कांट ने भी अपनी दूसरी और तीसरी आलोचनाओं में संकल्पेच्छा की अनिवार्यता में विश्वास के रूप में माना तथा इस विश्वास को अनुभूति की आवश्यकताओं पर आधारित किया ।

प्रत्यक्ष के तीन प्रकार :

जैन दर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान के तीन प्रकार माने गये हैं - अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान ।[32]

अवधि ज्ञान वह ज्ञान है जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मूर्तिक पदार्थों को जानता है ।[33] यह ज्ञान द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा से सहित है । द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव का आश्रय लेकर मूर्तिक पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने वाले ज्ञान विशेष को अवधिज्ञान कहा गया है । इस अवधिज्ञान के भाव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय ये दो भेद होते हैं ।[34] जो अवधिज्ञान जन्मसिद्ध होता है, जिसकी प्राप्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, वह अवधिज्ञान भव-प्रत्यय अवधिज्ञान कहा गया है । जो अवधिज्ञान जन्म लेने के बाद विविध प्रकार के प्रयत्नों के बल से जैसे तप, व्रत आदि से प्राप्त किया जाता है, वह अवधिज्ञान गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान कहलाता है । यद्यपि अवधिज्ञान उत्पन्न होने के लिए ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम आवश्यक है किन्तु इस समानता के होने पर भी जीवों में कुछ ऐसी जाति होती है, जिसमें जन्म लेते ही अवधिज्ञान के अनुकूल कर्मों का क्षयोपशम हो जाता है और इस प्रकार सहज रूप में ही अवधिज्ञान की उपलब्धि हो जाती है, किन्तु कुछ जातियों में जन्म से ही ऐसा नहीं हो जाता प्रत्युत उन्हें क्षयोपशम के लिए प्रयत्न करने पड़ते हैं । यह अन्तर ही भव-प्रत्यय और गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान में भेद का आधार है ।

मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षय होने पर अपने और दूसरे के मन की अपेक्षा से होने वाला ज्ञान मनःपर्यय ज्ञान है । दूसरे के मनोगत अर्थ को जानना मनःपर्यय है ।[35]

यहाँ पर एक शंका उठाई जा सकती है कि मतिज्ञान भी तो मन के संबंध से होता है, फिर मतिज्ञान को ऐन्द्रिय परोक्षज्ञान के अन्तर्गत क्यों रखा गया '

जैनाचार्यों ने इसका उत्तर देते हुए कहा कि जिस प्रकार आकाश में चन्द्रमा को देखने में आकाश की साधारण अपेक्षा होती है, उसी तरह मनःपर्यय

ज्ञान दूसरे मन में अवस्थित अर्थ को जानता है, इतनी मात्र यहाँ मन की अपेक्षा होती है, जबकि मतिज्ञान में तो मन कारक होता है।[36]

मनःपर्ययज्ञान के ऋजुमति और विपुलमति ये दो भेद हैं। ऋजुमति स्थूल ज्ञान है और विपुलमति सूक्ष्म ज्ञान। अतः विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान ऋजुमति की अपेक्षा अधिक विशुद्ध है।[37] दोनों में एक अन्तर और भी है, ऋजुमति ज्ञान उत्पन्न होने के बाद चला भी जाता है किन्तु विपुलमति ज्ञान बना रहता है।

अब एक प्रश्न यह उठता है कि अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान में भेद का आधार क्या है, क्योंकि दोनों ही ऐन्द्रियमन निरपेक्ष हैं। इसका उत्तर यही हो सकता है कि अवधिज्ञान सीधे मूर्तिक पदार्थ को जानता है किन्तु मनःपर्यय ज्ञान मन की पर्यायों द्वारा ही मूर्तिक पदार्थों को जानता है, सीधे तौर से नहीं। प्राणी चिन्तन मन से करता है और इस चिन्तन के दौरान चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार भिन्न - भिन्न आकृतियों को यह चिन्तनशील मन धारण कर लेता है। यह आकृतियाँ ही मन की पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान मनःपर्ययज्ञान है। इस ज्ञान से सिर्फ चिन्तनशील मन की आकृतियाँ ही जानी जाती हैं, चिन्तनीय वस्तुयें नहीं जानी जा सकतीं। वस्तुयें तो बाद में अनुमान से जानी जा सकती हैं।[38]

अकलंक इससे असहमति प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि मनःपर्ययज्ञान दूसरों के विचारों की विषयवस्तु को साक्षात् जान लेता है, ऐसी वस्तुओं का ज्ञान अनुमान से नहीं माना जा सकता। यह प्रत्यक्ष ज्ञान है।[39]

केवलज्ञान की चर्चा भारतीय-दर्शन के प्रायः सभी सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में की गयी है। जैन दर्शन के अनुसार, समस्त ज्ञानावरणों के समूल नाश होने पर प्रकट होने वाला निरावरण ज्ञान केवलज्ञान है। यह ज्ञान आत्ममात्र

सापेक्ष होता है तथा चेतनाशक्ति के सम्पूर्ण विकास के समय प्रकट होता है । कोई भी वस्तु या भाव ऐसा नहीं है जो इसके द्वारा न जाना जा सके । केवलज्ञान सभी द्रव्यों और पर्यायों को जानने में सक्षम है ।[40] अवधिज्ञान की प्रवृत्ति सर्वपर्यायरहित सिर्फ मूर्त द्रव्यों में होती है । मनःपर्ययज्ञान की प्रवृत्ति उस मूर्त द्रव्य के सर्वपर्यायरहित अनंतवें भाग में होती है । केवलज्ञान की प्रवृत्ति सभी द्रव्यों और सभी पर्यायों में होती है ।

इस प्रकार जैनदर्शन में त्रिकाल, त्रिलोकवर्ती समस्त ज्ञेयों के प्रत्यक्ष दर्शन के अर्थ में केवलज्ञान का प्रयोग किया गया है । इसी अर्थ में जैनदर्शन में कहा गया कि जो एक को जानता है वह सब को जानता है । जैनों का विचार है कि प्रत्येक व्यक्ति में केवलज्ञानी होने की शक्ति है क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव ही है, किन्तु आवरणों के कारण आत्मा का यह स्वभाव ढक जाता है ।[41] अतः तार्किक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक स्थिति ऐसी संभव है कि जब आवरणों का विनाश हो जाये और उस स्थिति में स्वाभाविक रूप से आत्मा का स्वभाव ज्ञान प्रकट हो जाये ।

जैनों के अनुसार आवरण व्यक्ति के कर्मों के परिणाम होते हैं ।[42] अतः कर्मों के क्षय के साथ आवरणों का विनाश होना भी अवश्यम्भावी है । जैसा कि हेमचन्द्र का तर्क है कि यदि ज्ञान में मात्राभेद माना जाता है तो इसका अभिप्राय है कि पूर्णज्ञान भी संभव है जिससे निष्कर्ष निकलता है कि ऐसे व्यक्ति का अस्तित्व संभव है जिसे सभी वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान होता है । दूसरे शब्दों में, केवलज्ञान संभव है ।[43]

हेमचन्द्र यह भी कहते हैं कि ज्ञान में विकास की प्रक्रिया होती है तो तार्किक दृष्टि से इस विकास की प्रक्रिया का कहीं अंत भी होना चाहिए । इस प्रक्रिया का अंत वहीं होगा जहाँ ज्ञान पूर्ण और अनंत कहा जा सके । यह स्थिति

केवलज्ञान की स्थिति है।[44]

अनुयोगद्वार में वीरसेन ने इसी तर्क प्रक्रिया के अनुसार केवलज्ञान की सिद्धि के लिए कई युक्तियाँ दी हैं, जो उनकी मौलिक उपलब्धि कही जा सकती है।[45] प्रथम युक्ति के अनुसार आत्मा ज्ञान स्वरूप है तथा उसके प्रतिबंधक कर्मों का क्षय होना भी संभव है। प्रतिबंधक कर्म के नष्ट हो जाने पर ज्ञान प्राप्त हो जाना ज्ञान स्वभाव वाली आत्मा का अनिवार्य धर्म है। जैसे अग्नि में जलाने की शक्ति हो और प्रतिबंधक हट गये हों तो वह दाहक पदार्थों को क्यों नहीं जलायेगी?

दूसरी युक्ति में वीरसेन ने केवलज्ञान को स्वयंसिद्ध बताया है। केवलज्ञान और मतिज्ञानादि में अवयव-अवयविभाव की कल्पना करके उन्होंने कहा, जिस प्रकार घट-पट आदि अवयवी पदार्थों का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष उसके कुछ अवयवों को देखकर ही होता है, उसके अन्दर और बाहर के सम्पूर्ण अवयवों को प्रत्यक्ष करना हम लोगों के लिए संभव नहीं है। उसी तरह केवलज्ञान रूपी अवयवी का प्रत्यक्ष भी उसके कुछ मतिज्ञानादि अवयवों के स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा होता है।

केवलज्ञान के विषय में कुंदकुंद ने कुछ भिन्न विचार प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि केवलज्ञान को जो समस्त पदार्थों को जानने वाला कहा गया है वह केवल व्यवहार-नय से ही कहा जा सकता है, क्योंकि निश्चय-नय से तो केवलज्ञान आत्माभिमुख होता है, अपने स्वरूप में निमग्न होता है।[46]

एक अन्यस्थान पर उन्होंने कहा है, जो अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को नहीं जानता वह सबको कैसे जानता है और जो सबको नहीं जानता वह अनंत पर्यायवाले एक द्रव्य को कैसे जान सकता है?[47]

इस बात को इस प्रकार से और स्पष्ट किया जा सकता है, जो मनुष्य घटज्ञान के द्वारा घट को जानता है वह साथ ही साथ घटज्ञान के स्वरूप का भी संवेदन कर ही लेता है, क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाशी होता है। इस प्रकार जो व्यक्ति घट को जानने की शक्ति रखने वाले घटज्ञान का स्वरूप यथावत् जान लेता है वह घट को जानने के साथ ही अनंत ज्ञेयों को जानने की शक्ति रखने वाले पूर्णज्ञान स्वरूप आत्मा को जान लेता है तथा इस शक्तियों के उपयोगभूत अनंत पदार्थों को जान लेता है।[48]

कुंदकुंद कहते हैं, ज्ञान आत्मा का अनिवार्य स्वभाव है।[49] व्यवहार दृष्टि से केवली सम्पूर्ण जगत को जानता है।[50] किन्तु निश्चयदृष्टि से वह सबसे निरपेक्ष सिर्फ अपनी आत्मा को जानता है।[51]

चेतना-परामनोविज्ञान एवं जैन मत :

यह चर्चा तब तक अपूर्ण रहती है जब तक इस अतीन्द्रिय बोध-क्षमता पर पाश्चात्य विचारधारा का भी कुछ उल्लेख न किया जाये। भौतिकवादी, वस्तुवादी और प्रत्यक्षवादी कहे जाने वाले पाश्चात्य-जगत में आज भौतिकवाद, वस्तुवाद और प्रत्यक्षवाद का मूल्यांकन किया जा रहा है। इन्द्रिय-मन सीमित भौतिकवादी दृष्टिकोण और भौतिक विज्ञान की सर्वोच्चता में आत्यन्तिक आस्था दोनों ही पीछे छूट रहे हैं। विज्ञान का अनिधार्यता का सिद्धान्त (Theory of Indeterminism) उस दिशा की ओर संकेत करता है, जहाँ कुछ भी निश्चितरूपसे भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। विज्ञान के क्षेत्र में आइन्स्टीन, हेनरी, पियर्स, मैक्सप्लैंक लेनार्ड, हाइजनबर्ग आदि कुछ नाम ऐसे हैं जिनके निष्कर्षों ने एक ऐसी स्थिति को जन्म दिया है जहाँअनिर्णय भी एक नियम बन गया है। प्रिन्सटन युनिवर्सिटी के जान व्हीलर ने कहा कि ब्रह्मांडका "होना" सिर्फ तटस्थ भाव से देखते रहने के अलावा और कोई चारा नहीं, तो संभवतः वह ऐसे व्यक्ति की :.

अवस्था है जो जानता तो है परन्तु जिसे या तो उसके विषय में कुछ बताना नहीं चाहिये या फिर यह कि वह बता नहीं पाता । आज का वैज्ञानिक सृष्टि की अणिमा से ही आतंकित होकर रहस्य की भाषा बोलने के लिए विवश है । उसकी स्थिति छांदोग्य उपनिषद् के श्वेतकेतु की याद दिलाती है जिसके गुरु आरुणि ने उससे वटवृक्ष के फल के दाने तोड़कर कहा था, श्वेतकेतु यह अणिमा ही सब कुछ है, तू भी इसी का प्रतिरूप है । कहीं किसी गहरे अथाह स्तर पर ब्रह्मांड का एक एक खंड पूर्ण है ।[52]

स्पष्ट है कि भौतिक विज्ञान जिस ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष पर आधारित है, वह भौतिकविज्ञान भी अब तक पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान सकता है । पदार्थों का सूक्ष्म विश्लेषण करते करते वे पदार्थों से परमाणुओं और परमाणुओं से विद्युत तरंगों तक पहुँचे हैं फिर भी पदार्थ के मूल रूप तक नहीं पहुँच पाये हैं । जैन दर्शन के अनुसार तो इस स्वरूप को ऐन्द्रिय ज्ञान द्वारा जाना ही नहीं जा सकता है । मात्र ऐन्द्रिय ज्ञान के आधार पर वस्तु के यथार्थ रूप को कभी भी नहीं जाना जा सकता ।

यही कारण है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक आज निरन्तर चेतना के नवीन आयामों की खोजकर रहे हैं । मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान अतीन्द्रिय के रहस्यों को सुलझाने का प्रयत्न कर रहा है । पाश्चात्य जगत में इस अतीन्द्रिय-बोध-क्षमता पर शोध करने वाले विद्वानों ने इस बोध-क्षमता के लिए कई शब्दों का प्रयोग किया । प्रो० रिचटे ने क्रिपथीसिस (Cryptesthesis) शब्द इसके लिए दिया तो प्रो० मायर्स ने टेलीपैथी (Telepathy) शब्द दिया । प्रो० राइन ने सैकेंड साईट (Second sight) और क्लेयरवायंस (Clairvoyance) शब्दों का प्रयोग किया ।

टेलीपैथी का अर्थ है ज्ञात ऐन्द्रिय संवेदनों के अतिरिक्त, अन्य साधनों

द्वारा एक मनस् से दूसरे मनस् का ज्ञान संभव है। क्लेयरवॉयंस का अर्थ है वस्तु का ज्ञान या प्रत्यक्ष अनुभव ऐन्द्रिय-उपकरणों के बिना भविष्य में, दूर में, समीप में हो सकता है। इसके लिए थॉट ट्रांसफर (Thought Transfer) और माइंड रीडिंग (Mind Reading) शब्दों का भी प्रयोग किया गया, जिसका अर्थ है एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के मस्तिष्क में क्या है, उसे प्रत्यक्ष रूप से जान सकता है। दूरी का प्रश्न यहाँ गौण हो जाता है।[53]

परामनोविज्ञान पर शोध करने वालों में, जिनमें कुछ प्रख्यात वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं, इस बात पर सहमत हैं कि व्यक्ति में अतीन्द्रिय बोध-क्षमता है। मनुष्य में संवेदन का एक आश्चर्यजनक विभाग है, जो सूचनायें लाता है जिन्हें सामान्य इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतीन्द्रिय अनुभव का यह विभाग देश और काल से सीमित नहीं है। फ्रायड के मत ... में थॉट-ट्रांसफर (Thought Transfer) के पक्ष में काफी वजनी संभावनायें हैं।

जैन-दर्शन के अतीन्द्रिय ज्ञान - प्रकारों के विवेचन के उपरांत यदि परामनोविज्ञान के अतीन्द्रिय ज्ञान के भेदों से जैन दर्शन के अतीन्द्रिय ज्ञान की तुलना की जाये तो बात अधिक स्पष्ट होगी।

परामनोविज्ञान द्वारा टेलीपैथी और क्लेयरवायंस से अतीन्द्रिय बोध के जो दो रूप माने गये हैं और उनकी जिस प्रकार से व्याख्यायें की गयीं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों क्रमशः जैन दर्शन में मान्य मनःपर्याय और अवधि ज्ञान की है। टेलीपैथी एक मस्तिष्क के विचार और भावनाओं का दूरवर्ती या निकटवर्ती दूसरे मस्तिष्क तक बिना परिचित ऐन्द्रिय साधनों के स्वतंत्रतापूर्वक संप्रेषण है। यह एक मस्तिष्क के विचार अनुभवों और भावनाओं का दूसरे मस्तिष्क से संबंध स्थापित होना है, जो ऐन्द्रिय साधनों के बिना स्थापित होता है। टेलीपैथी सहज और प्रायोगिक दोनों रूपों में होती

है । सहज टेलीपैथी वह है जहाँ असाधारण विचारों और भावनाओं का अकस्मात् बिना किसी पूर्व आशा के एकाएक ग्रहण होता है । जहाँ पूर्ण नियंत्रित परिस्थिति में सामान्य चेतन स्थिति में समीप में या दूर में टेलीपैथी पर प्रयोग किये गये, जिसमें काल्पनिक इच्छायें, भावनायें, अनुभव, विचार सफलतापूर्वक एक मस्तिष्क द्वारा प्रेषित और दूसरे मस्तिष्क द्वारा ग्रहण किये गये, वह प्रायोगिक टेलीपैथी है ।[54]

अन्यत्र यदि पाश्चात्य अतीन्द्रिय शोधकर्ताओं के साइकोमैट्री (Psychometry) नामक अतीन्द्रिय ज्ञान शाखा पर कुछ विचार किया जाये तो उसकी कुछ सीमा तक केवलज्ञान से समानता प्रतीत होती है ।[55]

तात्पर्य है कि अंतिम रूप में पदार्थ कोई ऐसी सत्ता है जो अपने दृश्य रूप से उच्च है, महान् है । ऐन्द्रिय और मन से संबंध इससे स्थापित होने पर यह ऐन्द्रिय पदार्थ के रूप में उपस्थित होता है, वास्तविक पदार्थ के रूप में नहीं । पदार्थों के मूल रूप का यह जगत् इन्द्रियगम्य देशकाल के आयामों से परे है । संभवतः इसे ही प्लेटो ने "प्रत्ययों का जगत" और कांट ने "परमार्थ जगत" कहा था । अतीन्द्रिय ज्ञान देशकाल और वस्तु से सीमित नहीं है, यह वस्तुओं के उन गुणों को जानता है जो ऐन्द्रिय साधनों द्वारा नहीं जाने जा सकते ।

1. प्रमाणमीमांसा, पृ0 18.

2. न्यायावतार, सिद्धर्षि की टीका, पृ0 25.

3. विशदः प्रत्यक्षम् ।
   प्रमाणमीमांसा, 1.1.13.
   विशदः प्रत्यक्षमिति ।
   परीक्षामुख, 2.3,

4. न्यायविनिश्चयविवरण, पृ0 95.

5. न्यायविनिश्चयविवरण, 1.3,

6. वही, पृ0 98.

7. वही, पृ0 98.

8. अक्षं प्रतिनियतमिति परापेक्षानिवृत्तिः ।
   "अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति" इति अक्ष आत्मा, प्राप्तक्षयोपशमः
   प्रक्षीणावरणो परापेक्षानिवृत्तिः कृता भवति ।
   तत्त्वार्थवार्त्तिक भाग एक, 1.12-2

9. न्यायावतार, 1.4,

10. प्रवचनसार, श्लोक 1,

11. पंचास्तिकायसमयसार टीका, गाथा 48.

12. न्यायविनिश्चयविवरण, पृ0 95.

13. वही, पृ0 98.

14. इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षम् ।
    तत्त्वार्थवार्त्तिक, भाग एक, 1.12-1.

15. वही, 1.12-4-5.

16. तत्वार्थसूत्र, पृ० 73, & 74.

17. कसायपाहुड, जयधवला टीका सहित, संपादक पं० फूलचन्द्र, महेन्द्र कुमार, पं० कैलाशचन्द्र, मन्त्री प्रकाशन विभाग, भा० दि० जैन संघ, चौरासी मथुरा, पृ० 78.

18. You remember that the conflict of two mental factors, which we roughly call the repressed unconscious and conscious, dominates our lifes and that the resistence against the interpretation of dreams, the hall mark of the dream-censorship is none-other them the repression-resistence, which keeps these two factors apart.

New Introductory lectures on Psycho-analysis, Sigmund Freud, Translated by J.H. Sprott, Third edition, Nogarth press, London and the Institute of Psychoanalysis, 1946, p. 26.

19. 'The sleeper has to dream because the nightly relaxation of repression allows the upward thrust of the trammatic fixation to become active .

Ibid, p. 44.

20. EINSTein's conception of science, F.S.C. Northrop Philosopher Scientist, edited by Paul Arthur Schilpp, Second edition, 1951, Tudor Publishing Company, New York, p. 400-402.

21. The process of dream work has given us our first glimpse into those process which go on in our unconscious mental system and shows us that they are quite different from what we know about our conscious thought. Ibid, p. 27.

22. Psycho-analysis, A manual of principles and Techeniques. Roberto Assaoguioli, Hobbs Dorman and Company, New York, 1965, p. 17.

23. कठोपनिषद, 3.1,2.

24. "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम् ।"
बृहदारण्यकोपनिषद, 2.4-5.

25. अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो ।
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
मुण्डकोपनिषद, 2.1,5

26. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ0 241.

27. प्रवचनसार, 21, 22.

28. प्रमाणनय तत्त्वलोकालंकार, वादिदेवसूरि, II, 18.

29. प्रवचनसार, 57, 58.

30. न्यायावतारवार्त्तिक, 1.27.

31. भारतीय दर्शन, डा0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन, भाग दो, एलन एंड अनविन, पृ0 552.

32. तत्त्वार्थसूत्र, 1.12,14.

33. वही, 1.27

34. सर्वार्थसिद्धि, 1.21

35. सर्वार्थसिद्धि, 1.23

36. तत्त्वार्थवार्त्तिक, 1.23.2

37. तत्त्वार्थसूत्र, 1.24, 25.

38. प्रमाणमीमांसा, 1.1-18.

39. तत्त्वार्थवार्त्तिक, 1.23-4.

40. तत्त्वार्थसूत्र, 1.29

41. प्रमाणनय तत्त्वलोकालंकार, पृ० 242.

42. प्रमाणमीमांसा, 1.1-15.

43. वही, 1.1-16.

44. वही, 1.1-16.

45. षट्खंडागमकृति अनुयोगद्वारसूत्र, संपादक हीरालाल जैन, सेठ शिताबराय, लक्ष्मी बिन्दु, अमरावती, पृ० 118.

46. नियमसार, 19, 159.

47. प्रवचनसार, 1.42

48. समयसार, 10, 11, 433.

49. वही, 169.

50. नियमसार, 168.

51. वही, 158, 171.

51. दिनमान

53. An Introduction to Parapsychology, B.L. Atreya, The International Standard Publications, Banaras, 1957, Chap. I.

54. Jain view of life, Prof. T.H. Kalghatki, Karnatak University, Dharwar, 1961.

56. An Introduction to Parapsychology, p. 143-144.

------:0:------

तृतीय - अध्याय

केवलज्ञान - नवीन परिप्रेक्ष्य

तृतीय – अध्याय

केवलज्ञान – नवीन परिप्रेक्ष्य

सर्वज्ञता का विवेचन भारतीय दर्शन के प्रायः सभी संप्रदायों में किसी न किसी रूप में अवश्य हुआ है और सामान्यतः भारतीय विचारधारा सर्वज्ञता को संभव मानती है । इसी सर्वज्ञता को मुक्ति की स्थिति माना गया है । प्रश्न है कि सर्वज्ञता का अर्थ क्या है तथा क्या होना चाहिये ' यह प्रश्न इसलिए उपस्थित होता है क्योंकि सर्वज्ञता, जो विशुद्ध दार्शनिक संप्रत्यय है, की व्याख्या धार्मिक संप्रत्यय के रूप में की जाती है । इस रूप में सर्वज्ञता को चामात्कारिक शक्ति की उपलब्धि के साथ जोड़ दिया जाता है । दार्शनिक संप्रत्यय के रूप में सर्वज्ञता को कोई ऐसी आगंतुक शक्ति नहीं माना जा सकता जो व्यक्ति को बाहर से उपलब्ध होती है, यह व्यक्ति की अंतःस्थ, आत्मिक शक्तियों, गुणों और योग्यताओं का विकास है । वास्तव में, प्रायः सभी दार्शनिक संप्रदायों में सर्वज्ञता का यही अभिप्राय है; चाहे सांख्यदर्शन हो, चाहे वेदान्त दर्शन ।

यहाँ प्रयोजन है, सर्वज्ञता को, जिसे जैन दर्शन में केवल-ज्ञान कहा गया है, दार्शनिक संप्रत्यय के रूप में उपस्थित करना । वास्तव में, केवलज्ञान के विश्लेषण में अन्तर्निहित विचार दार्शनिक संप्रत्यय के रूप में ही है । जैन दर्शन में पूर्णतम ज्ञान की उपलब्धि की स्थिति को, जो जीवों का स्वभाव ही है, केवलज्ञान कहा गया है । इसका अर्थ हुआ केवलज्ञान स्वभावज्ञान है जिसे सर्वगत, सर्वव्यापक, स्वयंभू, अतिसूक्ष्म, विशुद्ध, पूर्ण, प्रत्यक्ष आदि अनेक विशेषणों से जाना गया है ।[1] केवलज्ञान को स्वभावज्ञान कहने का अभिप्राय यह ही है कि यहाँ ज्ञान को आत्मा का आगंतुक नहीं स्वाभाविक गुण माना गया है । ज्ञान के बिना आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती । आत्मा का यह स्वाभाविक गुण ज्ञान जीवों के अपने कर्मों के कारण आवृत्त हो जाता है । यह ही कारण है, जैसा पिछले अध्याय में स्पष्ट हो चुका है, जैनदर्शन में "अक्ष" शब्द का अर्थ आत्मा मानते हुए केवलज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान माना गया है ।[2] अतः स्पष्ट है कि केवलज्ञान

अतीन्द्रिय ज्ञान है । ज्ञान में इन्द्रिय आदि बाह्य साधनों की आवश्यकता तो तब पड़ती है जब ज्ञान जीव के अपने कर्मों के कारण आवृत्त रहता है । अतः स्पष्ट है कि समस्त ज्ञानावरणों के समूल नाश हो जाने पर चैतन आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप का पूर्ण प्रकाशन, उनकी अतीन्द्रिय और शुद्ध अनुभूति ही केवलज्ञान है । यह सभी प्रकार के ऐन्द्रिय अनुभवों से स्वतन्त्र है ।

अकलंक ने तर्क से इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया है । उनके अनुसार ज्ञस्वभाव आत्मा के ज्ञानावरण कर्म के सर्वथा नष्ट हो जाने पर कोई ज्ञेय शेष नहीं रह जाता जो ज्ञान का विषय न हो सके । चूँकि ज्ञान स्वभावतः प्राप्यकारी है, अतः उसे समस्त पदार्थों का बोध होना ही चाहिए । ज्ञान में जानने का स्वभाव है और ज्ञेय में ज्ञान में प्रतिभासित होने का । यदि कोई प्रतिबंधक कारण नहीं है तो ज्ञान में ज्ञेय का प्रतिभास होना ही चाहिए । सबसे बड़ी बाधा ज्ञानावरण की थी तो जब वह समूल नष्ट हो गयी तो निरावरण ज्ञान स्वज्ञेय को जानेगा ही ।[3]

यद्यपि जैनदर्शन में कभी-कभी ऐसे शब्दों का प्रयोग किया गया है जहाँ केवलज्ञान को समस्त पदार्थों का ज्ञाता कहा गया है, जो केवलज्ञान के आत्माभिमुखी स्वरूप से संगत प्रतीत नहीं होता किन्तु अन्तिम विश्लेषण से सिद्ध होगा कि केवलज्ञान आत्माभिमुख ही है ।

कुंदकुंद ने केवलज्ञान को युगपत् अनंतपदार्थों को जानने वाला बताया है । चूँकि केवलज्ञान चेतनाशक्ति के सम्पूर्ण विकास के समय प्रकट होता है, इसलिए कोई भी वस्तु या भाव ऐसा नहीं है जो इसके द्वारा न जाना जा सके ।[4] उमास्वाति के मत में, केवलज्ञान में सभी द्रव्य अपनी सम्पूर्ण पर्यायों के सहित एक साथ आभासित होते हैं ।[5]

कुंदकुंद का केवलज्ञान के विषय में विशिष्ट दृष्टिकोण उनके निम्न कथन में व्यक्त होता है कि जो एक को जानता है वह सबको जानता है।[6] इस बात को स्पष्ट करते हुए कुंदकुंद आगे कहते हैं कि जो अनन्त पर्यायोंवाले एक द्रव्य को नहीं जानता वह सबको कैसे जान सकता है और जो सबको नहीं जान सकता वह अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्य को कैसे जान सकता है?[7]

इस विचार का कारण यह प्रतीत होता है कि जैन तर्कग्रन्थों के अनुसार प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। अतः किसी भी पदार्थ के यथावत् पूर्णज्ञान के लिए जिस प्रकार स्वरूपास्तित्व का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार उस पदार्थ के अनन्त पररूपों के नास्तित्व का ज्ञान भी आवश्यक है। कहने का तात्पर्य है कि जो व्यक्ति वस्तु को जानने की शक्ति रखने वाले ज्ञान का स्वरूप यथावत् जान लेता है वह वस्तु को जानने के साथ ही अनन्त वस्तुओं को जानने की शक्ति रखने वाले पूर्णज्ञान स्वरूप आत्मा को जान लेता है। और इस शक्ति के उपयोगभूत अनन्त पदार्थों को भी जान लेता है।

अकलंकदेव ने केवलज्ञान की सिद्धि के लिए ज्योतिज्ञान की एक और युक्ति भी दी है। उनके मत में यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके, तो सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहों के भविष्य के विषय में और उनके ग्रहणकाल के विषय में भविष्यवाणी कैसे सम्भव हो सकती? यह भविष्यवाणियाँ सत्य होती हैं, जो इस बात को सिद्ध करती हैं कि अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष सम्भव है। उनके अनुसार, जिस प्रकार इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही सत्य-स्वप्न, भावी राज्यलाभ आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भावी पदार्थों में संवादक और स्पष्ट होता है। चूँकि दोष और आवरण आगन्तुक हैं, आत्मा के स्वभाव नहीं हैं। अतः प्रतिपक्षी साधनों से उसका समूल विनाश हो जाता है और सब निवारण और निर्दोष आत्मा का पूर्ण रूप स्पष्ट हो जाता है।[8]

वीरसेन ने इसी से मिलती जुलती युक्ति दी है । उनके अनुसार एक तो आत्मा ज्ञानस्वरूप है दूसरे उसके प्रतिबन्धक कर्म हट जाते हैं । प्रतिबन्धक कर्मों के नष्ट हो जाने पर ज्ञान प्राप्त हो जाना ज्ञान-स्वभाववाली आत्मा का धर्म है । जैसे अग्नि में जलाने की शक्ति हो और प्रतिबन्धक हट गये हों तो वह बाह्य को क्यों नहीं जलायेगी ?[9]

अतः स्पष्ट है कि जैनदर्शन के अनुसार आत्मा के वास्तविक सत्य, सहज और पूर्णरूप को ज्ञान लेना ही केवलज्ञान है ।[10] यही कारण है कि डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् जैसे विचारक कहते हैं कि जैनदर्शन का तर्क हमें एक तत्ववाद की ओर ले जाता है और जहाँ तक वे इस एकतावाद को स्वीकार नहीं करते वे अपने ही तर्क के प्रति सजग नहीं हैं । सापेक्षता का सिद्धान्त तार्किक ढंग से बिना निरपेक्षता को स्वीकार किये नहीं समझा जा सकता ।[11]

उपरोक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि केवलज्ञान का अभिप्राय धार्मिक चमत्कार नहीं है, इसका सुदृढ़ तार्किक और बौद्धिक आधार है । केवलज्ञान को इसी तार्किक आधार और सहज बौद्धिक संप्रत्यय के रूप में प्रतिष्ठित किया जाना है । बौद्धिक आधार के लिए केवलज्ञान को एक सुन्दर मानवीय आकांक्षा के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए । इस रूप में केवलज्ञान को असीम मानवीय ज्ञान क्षमता के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । केवलज्ञान का अन्तर्निहित आशय यह ही हो सकता है कि जगत में ऐसा कुछ भी नहीं है जो मानव-आत्मा के लिए ज्ञेय न हो सके । यह मानवीय आत्मा की ज्ञानक्षमता में आस्था है । यह वही आस्था है जो व्यक्ति को निरन्तर नवीन खोजों की ओर प्रेरित करती रहती है । इस रूप में केवलज्ञान स्वाभाविक मानवीय अभिवृत्ति है । जिस प्रकार कांट ने मानव के सुखी रहने के लिए ईश्वर की पूर्वकल्पना आवश्यक मानी थी उसी प्रकार आशावादी और निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर जगत के लिए केवलज्ञान के रूप में आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति में आस्था की पूर्वकल्पना अनिवार्य है ।

यहाँ पर कुंदकुंद के एक पूर्व उल्लिखित कथन पर ध्यान देना महत्वपूर्ण है, उन्होंने कहा था कि जो एक को जानता है वह सबको जानता है। उनके कथन का आशय था जो व्यक्ति वस्तु को जानने की शक्ति रखने वाले ज्ञान का स्वरूप यथावत् जान लेता है, वह वस्तु को जानने के साथ ही; अनन्त वस्तुओं को जानने की शक्ति रखने वाले पूर्ण ज्ञान स्वरूप आत्मा को जान लेता है और इस शक्ति के उपयोगभूत अनन्त पदार्थों को भी जान लेता है।[12]

इस कथन की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि व्यक्ति द्वारा अपनी आत्मा को जान लेना अर्थात् उस आत्मा को जान लेना जो अनन्तज्ञानमय है, केवलज्ञानी होना है। इसका अभिप्राय है आत्मा के स्वरूप की खोज ही केवलज्ञान है। पाश्चात्य जगत में सर्वप्रथम सुकरात ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने यह बताया कि मानव के अन्दर एक आत्मा है जो सामान्य जागरितावस्था की बुद्धि नैतिक चरित्र का आधार है - और यह मानव की सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु है तथा मानव को उसका अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये।[13] अतः स्पष्ट है कि आत्म-साक्षात्कार और आत्मानुभूति ही केवलज्ञान का सर्वाधिक उपयुक्त अर्थ हो सकता है। आत्मानुभूति ही सच्ची स्वतन्त्रता है। मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त कर सकता है क्योंकि उसके पास प्रकृति से महत् कुछ है। इसलिए वह श्रेष्ठ है। मानव की उपलब्धि इस तथ्य की परिचायक है कि मानव चेतना कुछ भी प्राप्त कर सकने में सक्षम है।

जैनदर्शन की या कहा जाये भारतीय दर्शन की मानवीय चेतना की शक्तियों में आस्था है। भारतीय दार्शनिकों ने मानवीय व्यक्तित्व में अनन्त विकास की सम्भावनायें मानी। आत्मा की उच्चतम अवस्था इन्हीं मानवीय गुणों और शक्तियों के विकास की उच्चतम अवस्था है। आत्मानुभूति का अर्थ है इन्हीं अन्तर्निहित क्षमताओं का पूर्ण प्रकाशन। जब व्यक्ति इस अन्तर्दृष्टि को प्राप्त कर लेता है तो वह जान लेता है कि आत्मा द्वारा स्थूल जगत पर नियंत्रण रखा जा

सकता है । इसका तात्पर्य यह ही है कि ज्ञानाकार आत्मा के स्वरूप को जाने बिना ज्ञेयों का ज्ञान सम्भव नहीं है । नियमसार में कुंदकुंद भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त करते हैं ; वे कहते हैं कि केवलज्ञान को जिसे समस्त पदार्थों को जानने वाला कहा गया है वह केवल व्यवहार नय से ही कहा जा सकता है क्योंकि निश्चय नय से तो केवलज्ञान आत्माभिमुख होता है; अपने स्वरूप में निमग्न होता है ।[15]

यह आत्मा की अनुभूति व्यक्तिगत चेतन आत्मा या "मैं" की अनुभूति नहीं है । यह व्यक्तित्व के संश्लेषणात्मक आध्यात्मिक केन्द्र का साक्षात्कार है । यह अनुभूति आत्मा के उच्चतर पहलुओं को बनाती है, इस उच्च स्तर पर पहुँची आत्मा विस्तृत अर्थ में आध्यात्मिक है, और जब इसी उच्च चेतना के कुछ तत्त्व सामान्य चेतना के क्षेत्र में आते हैं तब वह व्यक्ति में प्रेरणा तथा रचनात्मकता की अनुभूति उत्पन्न करते हैं ।[16]

कुंदकुंद "समयसार" में स्पष्ट करते हैं, "यह मेरे नहीं हैं । मैं प्रकाश हूँ, जो आन्तरिक आत्मा और बाह्य जगत दोनों को प्रकाशित करता हूँ क्योंकि मैं सर्वप्रकाशक चैतन्य हूँ ।"[17]

जब व्यक्ति अपने व्यक्तित्व के इस उच्चतर आकांक्षणीय केन्द्र को जान लेता है तो वह एक सामंजस्यपूर्ण, सुव्यवस्थित और एकीकृत व्यक्तित्व का निर्माण करने में समर्थ हो जाता है । अतः केवलज्ञान का अर्थ है व्यक्तिगत चेतना का उच्चतर चेतना में समावेश । इसका तात्पर्य दो स्वतन्त्र और अलग आत्माओं की सत्ता नहीं है । वस्तुतः आत्मा एक है और वह सचेतनता की विविध मात्राओं को प्रकाशित करती है । सम्मुख लक्ष्य यह ही है कि कैसे मानव अपनी इस सामंजस्यपूर्ण एकता और पूर्णता को प्राप्त कर सकता है । इसके लिए आवश्यक है सच्ची आत्मा की अनुभूति और इसको केन्द्र मानकर इसके चारों और अपने

नवीन व्यक्तित्व की रचना और उसकी पुनर्गठन ।[18] अन्तर्दृष्टि वह सम्पूर्ण शक्तियों के उपयोग से प्राप्त कर सकते हैं । प्रश्न केवल विचारों का नहीं है, यह तो ज्ञान को परिवर्तित करने की अस्तित्व के नवीनीकरण की प्रक्रिया है । यह एक दृष्टि है सचेतनता है और असीम स्वतन्त्रता में मुक्ति है ।[19]

सन्दर्भ और टिप्पणी

1. प्रवचनसार, श्लोक 16.

2. वही, श्लोक 57,58.
   अनुयोगद्वारसूत्र, संपादक हीरालाल जैन,
   सेठ शिताबराय, लक्ष्मीबिन्दु, अमरावती,
   पृ0 143.

3. ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ।
   अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम् ।।
   न्यायविनिश्चय विवरण, 3.79

4. जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं ।
   अत्थं विचित्त विसमं तं णाणं खाइयं भणियं ।।
   प्रवचनसार, 1.47

5. सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य,
   तत्त्वार्थसूत्र, 1.30

6. जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे ।
   णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा ।।
   प्रवचनसार, 1.42

7. दव्वमणंतपज्जयमेकमणंताणि दव्वजादाणि ।
   ण विजाणादि जदि जुगवं कधं सो सव्वाणि जाणादि ।।
   वही, 1.49

8. धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः ।
   ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम् ।।
   न्यायविनिश्चय श्लोक 414.

9. ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबंधरि ।
   दाह्योऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबंधरि ।।
   षट्खंडागम कृति अनुयोगद्वार सूत्र, पृ0 118.

10. जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठ अणण्णभविसेसम् ।
अपदेससुप्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥
नियमसार, श्लोक 15.

11. भारतीय दर्शन, भाग एक

12. समयसार, श्लोक, 10, 11, 433.

13. पूर्व और पश्चिम कुछ विचार, डा० राधाकृष्णन, पृ० 60.

14. वही, पृ० 138.

15. समयसार, श्लोक 6, 7.
नियमसार, श्लोक, 158.

16. Psychosynthesis, A manual of Principles and Techeniques, Chapt. I

17. समयसार, श्लोक 3, 7.

18. Psychoanalysis, A manual of Principles and Techeniques, Chapt. 2.

19. पूर्व और पश्चिम कुछ विचार, पृ० 23.

------:0:------

चतुर्थ - अध्याय

परोक्ष प्रमाण

चतुर्थ अध्याय

परोक्ष-प्रमाण

जैन दार्शनिकों का अतीन्द्रिय ज्ञान का विश्लेषण, जिसे वे प्रत्यक्ष ज्ञान[1] कहते हैं, का जहाँ तक संबंध है, वह जैन-दर्शन को अध्यात्मवाद की ओर ले जाता है क्योंकि एक तरफ तो वे अतीन्द्रिय ज्ञान को स्वभाव-ज्ञान[2] के रूप में मान्यता देते हैं तथा दूसरी तरफ वहाँ इन्द्रियों को माध्यम के रूप में अस्वीकार करते हुये ज्ञान को आत्मवेदी मानते हैं ।[3] इसका तात्पर्य है कि यहाँ ज्ञेय के रूप में भौतिक वस्तु के अस्तित्व का प्रश्न गौण हो जाता है । तथ्य है कि सामने एक मेज है, उस मेज के अस्तित्व के विषय में संदेह नहीं है, मेज एक भौतिक वस्तु है । इस मेज का ज्ञान हम तभी प्राप्त कर सकते हैं जब हम आँखों से उसे देखें या उसे स्पर्श करें । यदि गुलाब का फूल देखना चाहें तो मात्र सोचने से गुलाब का फूल नहीं आ जायेगा । इसका तात्पर्य है कि भौतिक वस्तुओं का ज्ञाता से स्वतंत्र अस्तित्व है और उसका ज्ञान ऐन्द्रिय संवेदनों से होता है । इन्द्रियों द्वारा प्राप्त वस्तु के ज्ञान को पाश्चात्य दर्शन में प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है । इस सन्दर्भ में जैनों की क्या स्थिति है ? यह प्रश्न इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि यद्यपि अतीन्द्रिय ज्ञान की मान्यता जैसा कि देखा जा चुका है जैन दर्शन को अध्यात्मवादी सिद्ध करती है किन्तु जैन दर्शन को वास्तववादी और वस्तुवादी दर्शन कहा जाता है । इसका तात्पर्य है कि प्रत्ययवादियों की तरह वे सिर्फ आत्मजगत को यथार्थ नहीं मानते बल्कि ज्ञान से पृथक स्वतंत्र सत्ता रखने वाले बाह्य जड़ पदार्थों की सत्ता भी यथार्थ मानते हैं, वस्तुओं के इन्द्रिय ज्ञान को भी प्रमाण मानते हैं । यही कारण है कि जैनों ने ज्ञान को स्वसंवेदी विश्लेषण के साथ-साथ सदैव अर्थसंवेदी विशेषण भी दिया है । तात्पर्य यह है कि ज्ञान पदार्थ बोध के साथ-साथ अपना संवेदन स्वयं करता है ।

अतः आत्मा की भी सत्ता है और वस्तु की भी सत्ता है। वस्तु गुण है और आत्मा गुणी। गुणी और गुण में भिन्नता होती है। कुंदकुंद का कथन है कि ज्ञानी ज्ञान स्वभाव होता है और वस्तु ज्ञेय स्वभाव। अतएव भिन्न स्वभाव वाले ये दोनों स्वतंत्र हैं।[4] उनके मत में न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय। वस्तुयें हमारे ज्ञान की विषय बने या न बने फिर भी वे अपने रूप में अवस्थित रहती है, उसी प्रकार वस्तुयें हमारे ज्ञान की विषय बने या न बनें, हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित रहता है क्योंकि ज्ञान पदार्थ का धर्म नहीं है, ज्ञान तो आत्मा का धर्म है। ज्ञान अन्तरंग में चेतन रूप से तथा अर्थ बहिरंग में जड़रूप से अनुभव में आता है। अर्थ शून्य ज्ञान स्वाकारतया तथा ज्ञान शून्य अर्थ अपने अर्थरूप में अस्तित्व रखते ही हैं।

वस्तुतः ज्ञान की स्थिति ज्ञान की उत्पत्ति की स्थिति नहीं होती किन्तु यह ज्ञान के प्रयोग की स्थिति है, क्योंकि ज्ञान की स्थिति हमारी आत्मा की स्वाभाविक स्थिति है। आत्मा का लक्षण ही है चैतन्य। चैतन्य ही सारी ज्ञान की प्रवृत्तियों का स्रोत है। अतः जैन दर्शन के वास्तववादी कहे जाने के पीछे यही कारण है कि वे वास्तववादी दर्शन की भाँति ज्ञाता से बाह्य वस्तु जगत की स्वतंत्र सत्ता मानते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि वस्तु में जिसे जैन दार्शनिक पुद्गल-द्रव्य कहते हैं, जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषय बनते हैं उनकी क्या स्थिति है? वे भी वस्तुओं की तरह ज्ञाता निरपेक्ष हैं या नहीं? सामान्य बुद्धि बताती है कि चेतना के संबंध से स्वतंत्र भी गुलाब लाल और पत्तियाँ हरी होती हैं। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक अणु जो वस्तु की सूक्ष्मतम इकाई है में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श अनिवार्यतः होता है। यहाँ पुद्गल द्रव्य का लक्षण ही है वर्ण, गंध, रस और स्पर्शयुक्त होना। ये स्वतंत्र रूप से अलग-अलग वस्तुयें न होकर पुद्गल द्रव्य के ही अंश है। ये इन्द्रियों के विषय हैं।[5] अर्थात्

पाँचों इन्द्रियाँ एक ही द्रव्य की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को जानती हैं ।[6] ये पाँचों गुण अलग-अलग नहीं रहते । ये वस्तु के सभी भागों में सम्मिलित रूप से रहते हैं । इन गुणों में जो भेद प्रतीत होता है वह इन्द्रिय जन्य है क्योंकि इन्द्रियों की शक्तियाँ सीमित हैं इसलिये वे वस्तु के एक ही गुण को एक समय में देख पाती हैं । एक भौतिक द्रव्य में स्पर्श, रस आदि सभी पर्यायें होती हैं किन्तु एक ही समय में सभी पर्यायें प्रत्यक्षीकरण का विषय नहीं बनतीं । प्रत्यक्षीकरण का विषय बनना प्रबलता पर निर्भर है अर्थात् यद्यपि सभी पर्यायें वस्तु में होती हैं किन्तु जो पर्यायें प्रबल होती हैं, उसी को इन्द्रियाँ ग्रहण लेती हैं । फिर इन पर्यायों की प्रबलता-अप्रबलता आदि इन्द्रियों की योग्यता पर भी निर्भर होती हैं, क्योंकि इन्द्रियों की ग्रहणशक्ति में भी विविधता होती है ।[7] अतः पाश्चात्य वस्तुवादियों की तरह वस्तु भी ज्ञाता निरपेक्ष है और गुण भी । यहाँ पर जैनों का विशिष्ट अनेकांतवादी, सापेक्षवादी दृष्टिकोण स्पष्ट लक्षित होता है । जैनदार्शनिक किसी भी स्थल पर ऐकान्तिक रूप से न सिर्फ भेद को मानते हैं न सिर्फ अभेद को, बल्कि एक स्थिति में भेद को भी मान्यता देते हैं और दूसरी दृष्टि से अभेद को भी मानते हैं । पाँचों इन्द्रियों में भेद भी होता है और अभेद भी । इसी प्रकार इन्द्रियों के विषयों रूप रस आदि में भी भेद और अभेद दोनों होता है - द्रव्य की दृष्टि से अभेद और पर्याय की दृष्टि से भेद ।[8] यदि उनमें सिर्फ अभेद हो तो दो इन्द्रियों में अनुभवों में कोई भेद नहीं होगा यदि उनमें सिर्फ भेद होगा तो वे मिलकर एक साथ ज्ञान उत्पन्न नहीं कर सकतीं ।[9]

पूज्यपाद के अनुसार - स्पर्शादि परस्पर तथा द्रव्य से कदाचित् भिन्न कदाचित् अभिन्न हैं । यदि स्पर्शादि में सर्वथा एकत्व है, स्पर्श के होने पर रस आदि का ज्ञान हो जाना चाहिये । यदि द्रव्य से सर्वथा एकत्व हो तो या तो द्रव्य की सत्ता रहेगी या फिर स्पर्शादि की । यदि द्रव्य की सत्ता रहती है तो लक्षण के अभाव में उसका भी अभाव हो जायेगा और यदि गुणों की तो निराश्रय होने से उनका अभाव ही हो जायेगा । यदि सर्वथा भेद माना जाता

है तो संख्या परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग आदि रूपी द्रव्य में समवाय संबंध से रहने के कारण चाक्षुष होने पर भी परस्पर भिन्न है ।[10]

"यदि दोनों स्वतंत्र हैं तो दोनों में संबंध कैसे होता है" कुंदकुंद उदाहरण सहित इस बात को स्पष्ट करते हैं, उनके मत में जैसे चक्षु अपने में रूप का प्रवेश न होने पर भी वस्तु को जानती है वैसे ही ज्ञान बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष करता है । उनका मत है कि जिस तरह दूध के बर्तन में रखा हुआ इन्द्रनीलमणि अपनी कांति से दूध के रूप का अभिभव करके उसमें रहता है वैसे ही ज्ञान वस्तु में रहता है । जैसे दूधगत मणि स्वयं सम्पूर्ण दूध में व्याप्त नहीं है फिर भी उसकी कांति के कारण सम्पूर्ण दूध नीलवर्ण का दिखाई देता है । इसी प्रकार ज्ञान द्रव्यतः सम्पूर्ण वस्तु में व्याप्त न होते हुये भी अर्थ को जान लेता है ।

इस तरह आत्मा और वस्तु में संबंध संभव है क्योंकि आत्मा में जानने की क्षमता है और वस्तु में जाने जाने की, आत्मा का लक्ष्य है ज्ञेय और आत्मा का लक्षण है उपयोग । उपयोग का अर्थ है जानने का उपाय ।[11] आत्मा में ही ज्ञान की क्रिया होती है, जड़ वस्तु में नहीं, क्योंकि बोध का कारण चेतना शक्ति है । जिसमें चेतनाशक्ति हो उसी में बोध क्रिया हो सकती है । चेतना शक्ति आत्मा में ही होती है, जड़ में नहीं ।[12]

अतः आत्मा के अनंत गुणों में उपयोग अर्थात् चितशक्ति ही ऐसा गुण है जिसके द्वारा आत्मा को लक्षित किया जा सकता है । यह चैतन्य शक्ति जब बाह्य वस्तुओं के स्वरूप को जानती है तब उस साकार अवस्था में ज्ञान कहलाती है तथा जब यह चैतन्य शक्ति बाह्य पदार्थों में न रहकर मात्र चैतन्य रूप, स्वरूप-मग्न रहती है तब निराकार अवस्था में दर्शन कहलाती है । अर्थात् चैतन्यशक्ति की ज्ञेयाकार अवस्था उसके ज्ञान की अवस्था है और उसकी चैतन्याकार अवस्था उसके दर्शन की अवस्था है । तात्पर्य है कि चैतन्य की एक धारा है जो अनादि,

अनंतकाल तक प्रवहित होने वाली है । इस धारा में कर्मबंधन शरीर संबंध, मन, इन्द्रिय आदि बाह्य और आंतरिक कारणों के सम्पर्क से ज्ञेयाकार यानि पदार्थों का ज्ञान रूप परिणमन होता है । इसका ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमानुसार विकास होता है ।[13]

अकलंक के मत में विषय ग्रहण .. .. ज्ञान शक्ति या क्षयोपशम के अनुसार होता है जिस ज्ञान में पदार्थ को जानने की जैसी योग्यता है वह उसके अनुसार पदार्थ को जानता है । ज्ञान की साकारता का अर्थ है ज्ञान का उस पदार्थ का निश्चय करना । चैतन्य धारा ज्ञेय को जानने के समय ज्ञेयाकार होती है शेष समय में ज्ञानाकार । निराकार दर्शन इन्द्रिय और पदार्थ के सम्पर्क से पहले होता है जबकि साकार ज्ञान इन्द्रियार्थ सम्पर्क के बाद ।[14]

अतः उपर्युक्त विवेचन में स्पष्ट है कि जैन दर्शन वास्तविकतावाद का पोषक है, क्योंकि यह ज्ञाता और ज्ञान में पूर्ण अभेद नहीं मानता । ज्ञाता ज्ञान स्वभाव है और वस्तु ज्ञेय स्वभाव । अतः विषयी और विषय के रूप में दोनों स्वतंत्र है । किन्तु वस्तु में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की और ज्ञान में वस्तु को जानने की क्षमता होती है ।

यद्यपि पाश्चात्य दर्शन के वास्तववाद और जैनदर्शन के वास्तववाद में यह समानता है कि दोनों के अनुसार बहिर्जगत का अस्तित्व यथार्थ है, ज्ञाता और ज्ञान दोनों ही पर्याय है, वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता से स्वतंत्र है किन्तु पाश्चात्य वास्तववाद का दृष्टिकोण सिद्धांत है कि ज्ञाता इन वस्तुओं के अस्तित्व को इन्द्रियों के माध्यम से साक्षात् रूप से जान लेता है । इसका तात्पर्य है कि वास्तववाद के अनुसार वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है और यह ऐन्द्रिय ज्ञान साक्षात् ज्ञान की कोटि में रखा गया है । किन्तु जैन दार्शनिक वस्तु ज्ञान को मात्र इन्द्रियानुभूति तक सीमित नहीं करते और ऐन्द्रिय ज्ञान को

साक्षात् ज्ञान न कहकर परोक्ष ज्ञान मानते हैं ।

यह जैनों का अपना विशिष्ट सिद्धान्त है कि ज्ञान शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जानने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता, ज्ञान सतत् प्रवृत्त रहता है । प्रयत्न से ज्ञानावरण जितना क्षीण होता है उतना ही ज्ञान विकसित हो जाता है और तब ज्ञान और ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं रह जाता । किन्तु ज्ञान की अपूर्ण विकास की अवस्था में स्वतः ज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती । अतः आवृत्त अवस्था में हमें जानने का प्रयत्न करना पड़ता है ।[15] इस अवस्था में हम वस्तु को माध्यम के बिना नहीं जान सकते । ये माध्यम कहते हैं, इन्द्रिय और मन । जैन-दर्शन के अनुसार उपात्त और अनुपात्त इतर कारणों की प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ज्ञान है । यहाँ उपात्त शब्द से इन्द्रिय और मन तथा अनुपात्त शब्द से प्रकाश आदि का अर्थ अभिप्रेत है । इनकी अपेक्षा से होने वाला ज्ञान परोक्ष है । इस ऐन्द्रिय ज्ञान को परोक्ष इसलिये कहा गया क्योंकि यह "पर" की सहायता से "अक्ष" यानि आत्मा को होने वाला ज्ञान है ।[16]

जैन दर्शन के अनुसार मति और श्रुत, ये दो ज्ञान इन्द्रिय मन सापेक्ष ज्ञान कहे जाते हैं और इसलिये ये परोक्ष ज्ञान की श्रेणी में रखे जाते हैं ।[17] मतिज्ञान शुद्ध ऐन्द्रिक प्रत्यक्ष ज्ञान है जो पूर्णतया मन और इन्द्रिय पर आश्रित है । इसमें स्मृति, संज्ञा चिन्ता, अभिनिबोध सभी क्रियायें आ जाती है ।[18] श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है । श्रुतज्ञान का मतलब है सुना हुआ ज्ञान ।[19] मतिज्ञान की चार अवस्थायें होती हैं - अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ।[20] इन चारों अवस्थाओं से गुजरकर ही मतिज्ञान होता है । इन चारों अवस्थाओं में भेद भी है और अभेद भी । भेद इस अर्थ में कि ये वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं को हमें दिखाती है, अभेद इस अर्थ में कि ये सभी अवस्थायें एक ही प्रक्रिया के विभिन्न परिणाम हैं ।

यदि संवेदनायें भौतिक वस्तुओं से उत्पन्न होती हैं तो दोनों में अंतर क्यों पाया जाता है। तात्पर्य है कि भौतिक वस्तु और उससे उत्पन्न संवेदना में काफी अन्तर होता है। इसका कारण क्या है? क्यों एक ही वस्तु के विषय में एक ही ज्ञाता को विभिन्न समयों में विभिन्न अनुभूतियाँ होती हैं अथवा एक ही वस्तु के [illegible] कई ज्ञाताओं को एक ही समय में विभिन्न अनुभूतियाँ क्यों होती हैं? वास्तववाद के सामने यह सबसे जटिल प्रश्न है। यह प्रश्न और भी जटिल हो जाता है क्योंकि वास्तववादी भौतिक विज्ञान को संवेदनाओं से निकला हुआ मानकर उसे एक अनुमान के रूप में प्रस्तुत करते हैं जैसा कि प्रो० रसेल [illegible] वादी यह स्वीकार [illegible] की दृष्टि से हमारा ज्ञान संवेदनाओं से निकला है लेकिन यदि भौतिकविज्ञान सत्य है तो भी हमारे संवेदनों और उनके बाह्य कारणों में इतनी असमानता है कि यह कहना कठिन है कि कैसे संवेदनाओं से हम बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। समस्या इस तथ्य से और जटिल हो जाती है कि भौतिक विज्ञान संवेदनों से ही अनुमित है।[21]

रसेल प्रश्न करते हैं, प्रत्यक्षीकरण क्या है? जैसा कि मैं इस शब्द का प्रयोग करता हूँ, सामान्य ज्ञान के पदों में यह है, क्या होता है जब मैं कुछ देखता हूँ अथवा कुछ सुनता हूँ या अन्यथा मैं अपने पर विश्वास करता हूँ कि मैं अपनी इन्द्रियों द्वारा कुछ चीजों से अवगत होता हूँ। हम विश्वास करते हैं कि सूर्य सदा है किन्तु मैं केवल कुछ समय इसे देखता हूँ, मैं इसे रात में या मेघाच्छन्न मौसम में नहीं देखता या जब मैं दूसरा काम करता होता हूँ तब भी नहीं देखता हूँ। किन्तु उन प्रत्येक अवसरों पर जब मैं सूर्य को देखता हूँ। उनमें एक निश्चित समानता होती है जिसने मुझे सभी अवसरोंपर "सूर्य" शब्द का प्रयोग करने के योग्य बना दिया है। कुछ समानतायें विभिन्न अवसरों पर जब मैं सूर्य को देखता हूँ स्पष्ट रूप से मुझमें हैं, उदाहरण के लिये मुझे अपनी आँखें खोलनी चाहिये और सीधी तरफ घूमना चाहिये, इसलिये इन्हें हम सूर्य की विशेषतायें मान सकते हैं।

हमारे ऊपर निर्भर नहीं होती; जब हम सूर्य को देखते हैं यह प्राय: गोल, चमकदार और गर्म है। इस प्रकार की घटना जिसे "सूर्य" को "देखना" कहा जाता है मेरे और उस वस्तु के बीच एक संबंध में निहित होती है और जब यह संबंध पाया जाता है, मैं वस्तु का प्रत्यक्षीकरण अथवा संवेदन करता हूँ।[22]

इस जगह भौतिक विज्ञान हस्तक्षेप करता है और बताता है कि सूर्य उस अर्थ में चमकदार नहीं है जिस अर्थ में हम प्राय: "शब्द" को समझते हैं। इसके अतिरिक्त जब आप अब सूर्य को देखते हैं तो आपके देखने से जो भौतिक वस्तु अनुमित होगी, आठ मिनट पहले स्थित थी। इसलिये भौतिक विज्ञान के सूर्य को और हम जो देखते हैं तादात्म्य नहीं कर सकते। किन्तु इतना होने पर भी हम जो देखते हैं भौतिक सूर्य में विश्वास करने के लिये हमारा मुख्य तर्क है।[23]

आगे रसेल कहते हैं कि हमारे संवेदन के उपकरणों की भौतिकापेक्ष कुछ सीमा तक उपेक्षा कर सकता है क्योंकि इसका स्थिर रूप में प्रयोग किया जा सकता है जबकि ये वास्तव में स्थिर नहीं हैं। दृष्टिदोष से हम दो सूर्य देख सकते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमने एक खगोलशास्त्रीय चमत्कार संपन्न किया है। सूर्य के स्वरूप में यह परिवर्तन मेरे कारण है सूर्य के कारण नहीं। सामान्य अनुभव संवेदन में विभिन्नता के आत्मगत स्त्रोतों के भेद के कारण हैं। एक चौकोर वस्तु सदैव चौकोर ही दिखाई देगी।[24]

फिर रसेल कहते हैं किन्तु उन सिद्धांतों का अभी भी पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ जो कि भौतिक [illegible] से अनुमान उचित ठहराते हैं। उदाहरण के लिये जब बहुत व्यथित सूर्य को देखते हैं तो क्या हमें विश्वास करना चाहिये कि उनके संवेदनों से बाह्य एक सूर्य है और इसलिये नहीं कि परिस्थितियों को निर्धारित करने वाले नियम हैं जिसमें कि हम यह अनुभव करते हैं, कहते हैं कि "सूर्य देख रहे हैं।"[25]

इसका तात्पर्य है कि वास्तववाद की समस्या का समाधान विज्ञान के जगत में नहीं होता। जैसा कि प्रो० आइन्स्टीन का कहना है कि प्रत्यक्षकर्ता विषयी से स्वतंत्र बाह्य जगत का अस्तित्व समस्यात्मक है। यद्यपि आइन्स्टीन स्वयं भी एक बाह्य जगत का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, जो कि निरीक्षणकर्ता से काफी हद तक स्वतंत्र है। उनका मत है कि एक बाह्य जगत में विश्वास जो कि प्रत्यक्षकर्ता विषयी से स्वतंत्र है सभी प्राकृतिक विज्ञानों की आधारशिला है।[26] वस्तुनिष्ठता की समस्या के उत्तर के रूप में आइन्स्टीन का सापेक्षता का सिद्धांत बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि यह सिद्धांत बताता है कि वस्तु निष्ठता की पूर्ण व्याख्या प्रकृति अथवा विज्ञान के बाह्य जगत में नहीं की जा सकती[27] इस सिद्धांत द्वारा वस्तु के संप्रत्यय में परिवर्तन हुआ। पहले जो वस्तुओं का एक गुण था वह अब वस्तुओं के गुण और उनके संदर्भ की व्यवस्थायें बन गया।[28]

सापेक्षता के सिद्धांत ने स्पष्ट किया कि मापी गयी लम्बाई और समय का अन्तराल निरपेक्ष वैधता नहीं रखता बल्कि आकस्मिक तत्व होता है। किसी चुनी गयी विशिष्ट संदर्भ की व्यवस्था में यह तथ्य कि गतिशील आकार में परिवर्तन होगा शेष व्यवस्था के सापेक्ष होता है।[29]

वह वास्तविकता जो सभी दृश्य वस्तुओं का आधार है स्पष्ट रूप से की बहु-आयामी व्यवस्था है और हमारी संवेदन-शक्ति द्वारा जितने आयाम जाने गये है उनसे ज्यादा आयाम उसके अपेक्षित हैं।[30]

स्पष्ट है कि आइन्स्टीन के इस सापेक्षतावादी सिद्धांत का आशय यही है कि यद्यपि ज्ञान का विषय ज्ञाता से स्वतंत्र है किन्तु ज्ञाता निष्क्रिय होकर ज्ञान प्राप्त नहीं करता। ज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय के बीच एक संबंध पर निर्भर है। किन्तु वस्तु वादी इस तथ्य को भूल जाते हैं। जैनदर्शन का वास्तववाद इस अर्थ में आधुनिक है क्योंकि वह सापेक्षतावादी मत से काफी समानता रखता है, क्योंकि

वे ज्ञान को प्रसंग सापेक्ष मानते हैं । तात्पर्य है कि यहाँ वस्तु में अनंत गुणों और पर्यायों की कल्पना की गयी है साथ ही वस्तु का लक्षण माना गया है उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त होना । वस्तु का जो संवेदन होता है वह देश, काल, द्रव्य और भाव सापेक्ष होता है । वस्तु के अनंत गुणों और पर्यायों की कल्पना आइन्स्टीन की अनेक आयामों की कल्पना के समान है और प्रसंग-सापेक्षता क्रम की बहुआयामी व्यवस्था के समान है ।

इस बात को इस तरह स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार आइन्स्टीन मानते हैं कि "काल" कारणात्मक श्रृंखला का क्रम है और अनेक संभाव्य कालक्रमों में से एक कालक्रम को वास्तविक मानना आनुभविक निरीक्षण के कारण सापेक्ष है ।[31] उसी तरह जैन दार्शनिक भी मानते हैं कि द्रव्य शब्द की शक्ति और उसके अवच्छेदक भिन्न-भिन्न हैं । हाँ यह अवश्य है कि कहीं-कहीं द्रव्य के प्रतिपाद्य अर्थों में किसी को प्रधान और किसी को गौण मानना पड़ता है, क्योंकि ऐसा माने बिना विभिन्न नयों द्वारा विभिन्न अर्थों में आबद्ध ऐसे कई लोक-व्यवहार हैं जिनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।[32]

जिस वस्तु को एक भाग में देखा उसी को अन्य भाग में नहीं देखा ऐसा स्पष्ट व्यवहार लोक में देखा जाता है और इस व्यवहार के कारण ही एक वस्तु में विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है । देश, काल, पुरुष अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म भी रह सकते हैं ।[33] जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट हो चुका है जैनदार्शनिक कहीं भी ऐकान्तिक व्याख्या को स्वीकार नहीं करते । अतः वास्तववादी होते हुये भी वे भौतिकवादी व्याख्या से उत्पन्न कठिनाई से बचे । प्रमाणित करते हैं । जैन दार्शनिक इन्द्रियों को पूरी तरह से भौतिक नहीं मानते । इन्द्रियों की संरचना की दृष्टि से इनके दो रूप होते हैं । द्रव्येन्द्रियाँ और भावेन्द्रियाँ ।[34] द्रव्येन्द्रियाँ बिना भावेन्द्रियों की सहायता के ज्ञान नहीं उपलब्ध कर सकतीं क्योंकि भावेन्द्रियाँ इन्द्रियों की

शक्तियाँ हैं, द्रव्येन्द्रियाँ तो उपकरणमात्र हैं ।

इसी प्रकार ऐन्द्रिय ज्ञान में मन भी एक उपकरण है[35], जिसे जैन दार्शनिकों ने आंतरिक इन्द्रिय माना है[36] किन्तु मन को भी भावमन और द्रव्यमन के भेद से दो रूपों में स्पष्ट किया है ।[37]

आगे जैन दार्शनिकों की एक और विशिष्टता उभरकर सामने आती है जहाँ उन्होंने वस्तु और प्रकाश आदि कारकों को प्रत्यक्षीकरण का अनिवार्य कारण नहीं बल्कि प्रत्यक्षीकरण के विघ्न माना है ।[38]यदि ज्ञान के अनिवार्य कारण होते तो उनकी उपस्थिति हर ज्ञान में अनिवार्य होती तो फिर ऐसी स्थिति में भूतकाल और भविष्य की वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता, इसी प्रकार यदि प्रकाश अनिवार्य होता तो अंधकार में ज्ञान न होता ।[39]

यही कारण है कि जैन दार्शनिक मानते हैं कि द्रव्य के सभी गुण और निरन्तर परिवर्तनशील पर्यायें इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानी जा सकतीं क्योंकि इन्द्रियों की शक्तियाँ देश और काल की सीमाओं से सीमित होती हैं । अतः स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ वस्तुओं के सत्य स्वरूप को नहीं जान सकतीं । इसीलिये जैन दार्शनिक ऐन्द्रिय ज्ञान को निरपेक्ष ज्ञान नहीं मानते, इस ज्ञान को परोक्ष ज्ञान मानते हैं । यहाँ ज्ञान चूँकि आत्मा का धर्म है अतः जो ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है वह आत्मा के लिये परोक्ष ही है ।

अतः स्पष्ट है कि यद्यपि जैन दार्शनिकों का मत और पाश्चात्य वास्तववाद का मत है कि बाह्य जगत का वस्तुनिष्ठ अस्तित्व है, समान है किंतु जहाँ पाश्चात्य वास्तववादी यह मानते हैं कि वस्तुओं का इन्द्रियों के माध्यम से साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान है वहाँ जैनों के अनुसार ऐसे ज्ञान को परोक्ष कहा गया है। यद्यपि बाद में जैन तार्किकों ने मुख्य और सांव्यवहारिक ये दो भेद प्रत्यक्ष ज्ञान के करके ऐन्द्रिय ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष माना । मुख्य प्रत्यक्ष ज्ञान तो वही

माना गया जो सीधे आत्मा से होता है । ऐन्द्रिय ज्ञान को तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष इस अर्थ में कहा गया कि यह किसी दूसरे ज्ञान पर आधारित नहीं है, यही प्रत्यक्ष का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है । स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का इनका विश्लेषण आध्यात्मिक विश्वास से प्रभावित है । प्रत्यक्ष और परोक्ष का भेद यहाँ ज्ञानगत भेद नहीं है । आध्यात्मिक भेद है क्योंकि यह जैनों की अपनी विशिष्ट तत्वमीमांसा पर आधारित है इसलिये जो व्यक्ति इस विशिष्ट तत्व मीमांसा को नहीं मानता उसके अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष का यह भेद गलत है ।

ऊपर के विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि जैनों के ऐन्द्रिय ज्ञान का जहाँ तक संबंध है यह पाश्चात्य दर्शन में रसेल और मूर के वास्तववादी दर्शन के काफी निकट है । जैन वास्तववादी है । व्यवहारवादी उनका वास्तविकता का सिद्धान्त सापेक्षता के सिद्धान्त का एक प्रकार है । यह तथ्य जैन-दर्शन को आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अत्यन्त समीप ले आता है । यहाँ हर प्रकार के अतिवादों का निषेध किया गया है तथा सामान्य अनुभव के सिद्धांतों (common sense Theory of Knowledge) पर जोर दिया गया है । इस प्रयास में जैनों द्वारा सत्यता, तत्व और ज्ञान पर कुछ विशिष्ट सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये । यही कारण है कि जैन दर्शन कहीं वास्तववादी दर्शन है, कहीं प्रत्ययवादी दर्शन के निकट पहुँचा प्रतीत होता है और कहीं व्यवहारवाद और सापेक्षतावाद के निकट पहुँचता है ।

जैन-ज्ञानमीमांसा वास्तववादी होते हुए भी पाश्चात्य यथार्थवादी और प्रकृतिवादी ज्ञानमीमांसा नहीं है । प्रकृतिवाद के अनुसार जीवन संश्लिष्ट भौतिक और रासायनिक शक्ति का फलमात्र है एवं प्रकृतिवाद में ज्ञान का विकास माना गया है किन्तु ज्ञान के विकास का अर्थ, यहाँ चैतन्य का विकास नहीं है; जबकि जैनों के अनुसार विकास का अर्थ है चैतन्य का विकास । फिर यथार्थवादी, संवेदन

[Perception] और तर्क [Reasoning] को ही ज्ञान के साधन के रूप में मानते हैं तथा किसी भी प्रकार के अतीन्द्रिय ज्ञान को नहीं मानते । जैन दार्शनिक ज्ञान का विषय ज्ञान से स्वतन्त्र मानते हैं इसलिए यथार्थवादी हैं साथ ही ये यथार्थवाद के साथ संवेदन और तर्क को भी ज्ञान के विश्वसनीय माध्यम के रूप में स्वीकार करते हैं । किन्तु जैन-दर्शन अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवलज्ञान के रूप में अतीन्द्रिय ज्ञान को भी स्वीकार करते हैं, सर्वज्ञता पर बल देते हैं और ज्ञान के स्वप्रकाशकत्व को मानते हैं । यह स्वीकृति जैन-दर्शन को रूढ़ अर्थ में यथार्थवादी दर्शन से भिन्न कर देती है, तथा प्रत्ययवादी दर्शन के निकट ले आती है । जैसा कि पूर्व विवेचन में स्पष्ट हो चुका है कि निश्चय दृष्टि से गुणी - आत्मा और गुण - पदार्थ में एकरूपता है ।

उपर्युक्त विवेचन का अभिप्राय यह भी नहीं है कि जैन-दर्शन अतीन्द्रिय दर्शन [Super-naturalism] है । जैन-दर्शन बुद्धिवाद, व्यवहारवाद और सापेक्षतावाद है । अतीन्द्रिय-ज्ञान का अभिप्राय यहाँ किसी प्रकार की चमत्कारिक धार्मिक शक्तियों की उपलब्धि की स्थिति से नहीं जोड़ा जा सकता । अतीन्द्रियज्ञानवाद को [Super-naturalism] को कैसे बौद्धिक [Rational] बनाया जा सकता है, यह जैन-दर्शन की उपलब्धि है । आध्यात्मिक अनुभव अगर व्यवहार में उपलब्ध ही किया जा सकता है तो उसको भी ये लोग मानते हैं । सर्वज्ञता की सापेक्षतावादी व्याख्या मानते हैं । ये उपयोग को ज्ञान का लक्षण मानते हैं । ज्ञानमीमांसा की एक प्रमुख समस्या विषमता की है । इसका अभिप्राय है ज्ञान के विषय का ज्ञाता से स्वतन्त्र बाह्यजगत में अस्तित्व है या नहीं" क्या विषय की स्वतन्त्र सत्ता है अथवा वह ज्ञाता की मानसिक संरचना पर निर्भर है"

कुछ दार्शनिक जो यह मानते हैं कि विषय स्वयं एक स्वतंत्र सत्ता है उसे दर्शन के इतिहास में वास्तववादी विचारधारा कहा जाता है और जो विषय को मानसिक संरचना मानते हैं वे आदर्शवादी या प्रत्ययवादी दार्शनिक कहे जाते हैं ।

जहाँ तक विश्यता की स्थिति का प्रश्न है जैन दार्शनिक चूँकि विषय को ज्ञान से स्वतंत्र मानते हैं, इसलिए वे वास्तववादी कहे जायेंगे । ज्ञान की सत्यता क जहाँ तक संबंध है या कि ज्ञान में उपलब्ध विषय की सत्यता का प्रश्न है वहाँ जैन दार्शनिक सापेक्षतावादी दृष्टिकोण को अपनाते हुए प्रत्येकज्ञान को प्रसंग-सा मानते हुए सत्यता को भी प्रसंग-सापेक्ष मान लेते हैं । जिस प्रसंग में जिस उद्दे से वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया गया है उस उद्देश्य की दृष्टि से वह ज्ञान सत्य है । तात्पर्य है कि यहाँ जैन दार्शनिक विषय के निरपेक्ष की और आग्रह न दिखाते हुए, विषय-वस्तु जिस रूप में उपलब्ध हो रही है उसी को परिरि विशेष से उसके उपयुक्त होने के कारण सत्य मान लेते हैं । इससे निष्कर्ष निकल है कि विश्यज्ञान के संबंध में जैन-दृष्टि सापेक्षवादी है, व्यवहारवादी है ।

जैन दर्शन प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में अतीन्द्रिय केवल ज्ञान को परम निरपेक्ष पूर्ण ज्ञान मानता है और ज्ञान के शेष प्रकारों को जिनमें ऐन्द्रिय ज्ञान भी शामि है केवलज्ञान के भेद मानता है जैसा अकलंक का कहना है केवलज्ञान सामान्य ज्ञान है जिसके आवरण भेद से 5 भेद होते हैं ।

इस कथन का स्वाभाविक निष्कर्ष होगा कि केवलज्ञान के रूप में अतीन् ज्ञान के अतिरिक्त बाकी सब ज्ञानों के प्रकार जिन्हें जैन दार्शनिक मानते हैं वे केवलज्ञान के भेद होने के कारण सापेक्ष और सीमित ज्ञान होगें निरपेक्ष ज्ञान तो केवलज्ञान है । इस निष्कर्ष की स्वीकृति का अर्थ होगा प्रकारान्तर से शंकरा के दर्शन की भाँति सत्ता और ज्ञान के दो स्तरों में अन्तर मानना, अर्थात् व्यावहारिक दृष्टि से ऐन्द्रिय ज्ञान सत्य होते हुये भी पारमार्थिक दृष्टि से स ज्ञान है जो निरपेक्ष केवलज्ञान पर निर्भर है । किन्तु यह स्थिति प्रत्ययवादी की स्वीकृति है जो कि वास्तववादी, वस्तुवादी दर्शन जैनों को स्पष्ट रूप से अमान्य होगी क्योंकि वे ऐन्द्रिय अनुभवों को भी ज्ञानप्राप्ति का स्वतंत्र साधन मानते हैं । इस स्थिति में सामंजस्य कैसे स्थापित किया जा सकेगा ' जैनों म

ज्ञान के भेद में निहित तर्क की स्वाभाविक परिणति तो प्रत्ययवाद की ओर उन्मुख प्रतीत होती हैं किन्तु वे इस निष्कर्ष को स्वीकार न करके वास्तववादी श्रेणी में आ जाते हैं।

यदि हम प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान को परम निरपेक्ष ज्ञान न मानें तो जैनों के परोक्ष ज्ञान के विश्लेषण के आधार पर उन्हें वास्तववादी दर्शन कहा जा सकता है और ऐन्द्रिय ज्ञान की वास्तविकता मानी जा सकती है क्योंकि वे ज्ञाता के रूप में एक सार्वभौम आत्मा के अस्तित्व की कल्पना न करके अनन्त आत्माओं की कल्पना करते हैं, ज्ञेय के रूप में ज्ञाता से स्वतंत्र बाह्य जड़ पदार्थों की पृथक स्वतंत्र सत्ता को भी मानते हैं जिनका ज्ञान इन्द्रियों से होता है। रेखाचित्र द्वारा इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है -

परोक्ष ज्ञान ——	ज्ञाता	जीव।
	साधन	इन्द्रियाँ।
	ज्ञेय	भौतिक वस्तु जगत।

किन्तु यदि हम इन्द्रियजन्य परोक्ष ज्ञान को बाह्य वस्तु जगत का स्वतंत्र ज्ञान मान लिया जाये तो प्रत्यक्ष ज्ञान की क्या स्थिति [illegible] होगी? प्रत्यक्ष ज्ञान का विश्लेषण भी अपूर्ण है क्योंकि यहाँ प्रत्यक्षज्ञान में भी विषय, वस्तु ही होती है, यद्यपि परोक्षज्ञान के विपरीत यहाँ वस्तु का ज्ञान हमें बिना इन्द्रियों के माध्यम से होता है। क्या प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों के मध्य सिर्फ इन्द्रियों की माध्यम के रूप में उपस्थिति और अनुपस्थिति का ही भेद होता है? प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञाता बिना इन्द्रियों की सहायता के वस्तु का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है तो परोक्ष ज्ञान के रूप में इन्द्रियों की मध्यस्थता की आवश्यकता क्यों पड़ती है? फिर यह तो हमारा स्पष्ट अनुभव है कि वस्तु जगत का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा ही मिलता है। आत्मा द्वारा वस्तु का साक्षात् जो ज्ञान मिलता है उसमें और इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त ज्ञान में क्या संबंध

और क्या अन्तर है? क्या वस्तु का इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्षीकरण बिना इन्द्रियों के सीधे आत्मा द्वारा प्रत्यक्षीकरण से एक भिन्न रूप उपस्थित करता है? यह समस्यायें तब अधिक स्पष्ट होंगी जब हम प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञानों में ज्ञाता और ज्ञेय का अधिक सूक्ष्म विश्लेषण करें।

जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञान उसे कहते हैं जो सीधे आत्मा के द्वारा प्राप्त होता है, जहाँ ज्ञेय को जानने के लिये ज्ञाता को इन्द्रियों की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्यक्ष ज्ञान तीन प्रकार का माना गया है -

अवधि ज्ञान	ज्ञाता	(जीव)
	ज्ञेय	(मूर्तिक पदार्थ)
मनःपर्यायज्ञान	ज्ञाता	(जीवमन)
	ज्ञेय	(जीवमन)
केवलज्ञान	ज्ञाता	(आत्मा)
	ज्ञेय	(अनन्तगुण पर्यायुक्त द्रव्य)

यदि प्रत्यक्ष ज्ञान के इस विश्लेषण को देखा जाये तो स्पष्ट होगा कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान चूँकि अतीन्द्रिय ज्ञान है अतः एक ओर तो जैनों के वास्तववाद के विरुद्ध है फिर दूसरी तरफ यह विश्लेषण पूर्णतया प्रत्ययवादी दर्शन के भी अनुरूप नहीं है जहाँ अतीन्द्रिय ज्ञान को आत्मा का पूर्ण ज्ञान माना जाता है क्योंकि प्रत्ययवादी दर्शन तो ज्ञाता के रूप में जीव को नहीं मानता। जैनदर्शन के अनुसार एक तरफ अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञेय विषय तो वस्तु बनती है किन्तु साथ ही वे यह भी कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय में कोई भिन्नता नहीं होती। अब हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं कि क्या अतीन्द्रिय ज्ञान में ज्ञान का विषय वस्तु हो सकती है और यदि ज्ञाता और ज्ञेय में कोई

भिन्नता नहीं है तो इसका मतलब है कि ज्ञाता भी आत्मा और ज्ञेय भी आत्मा है, वस्तु नहीं। ज्ञेय विषयवस्तु है या आत्मा?

यदि प्रत्यक्ष ज्ञान में हम ज्ञान का विषयवस्तु मानें तो इसका तात्पर्य होगा यह ज्ञान विषयी विषय भेद पर आश्रित है और चूँकि ये एक दूसरे पर आश्रित हैं, अतः सापेक्ष ज्ञान है, इसलिये इन्हें परम ज्ञान नहीं माना जा सकता, जबकि यह ज्ञान तो पूर्ण ज्ञान है।

देश-काल और कार्यकारण भाव पर आश्रित यह भौतिक जगत किसी तरह असत्य नहीं माना जा सकता। यह हमारे ऐन्द्रिय अनुभवों से सिद्ध है किन्तु इस इन्द्रिय जगत को अन्तिम नहीं माना जा सकता क्योंकि अनुभूत पदार्थ सदैव परिवर्तनशील होते हैं और परिवर्तनशील होने का तात्पर्य है अपूर्ण होते हैं। फिर भी इनका निराकरण नहीं किया जा सकता। यहाँ तक कि शंकर भी इसका निराकरण नहीं करते। किन्तु यदि हम आनुभविक भौतिक जगत को अतीन्द्रिय ज्ञान में ज्ञेय माना जाये तो इसका तात्पर्य होगा कि विषयी और विषय में भेद है दूसरे शब्दों में अतीन्द्रिय ज्ञान भी विषयी और विषय के भेद से परे नहीं है और इस प्रकार सापेक्ष, सर्वोच्च नहीं।

इस समस्या का हल वास्तववाद में नहीं है कि अतीन्द्रिय ज्ञान को परम ज्ञान माना जाये और आनुभविक भौतिक जगत के ऐन्द्रिक ज्ञान को सापेक्ष ज्ञान न माना जाये। इसी विरोधाभास से बचने के लिये ही शंकराचार्य सत्ता के दो स्तरों में अन्तर करते हैं - पारमार्थिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता।

व्यवहारिक दृष्टि से जगत और आनुभविक आत्मा (जीव) यथार्थ सत्तायें हैं किन्तु अतीन्द्रिय अनुभव के स्तर पर ज्ञाता और ज्ञेय मिलकर एक हो जाते हैं। यहाँ ज्ञाता भी आत्मा है और ज्ञेय भी आत्मा है किन्तु यहाँ आत्मा को ज्ञेय

इसके का तात्पर्य नहीं है कि आत्मा विषय के रूप में उपस्थित होती है या परिवर्तित हो जाती है । अतीन्द्रिय ज्ञान में आत्मा को अपने स्वयं प्रकाशी रूप का ज्ञान होता है या जैसा शंकराचार्य का कथन है ज्ञाता और ज्ञेय दोनों परमार्थ रूप में एक हैं ।

अतीन्द्रिय ज्ञान में जीव के समक्ष आत्मा परमनिरपेक्ष सत्ता के रूप में उपस्थित होती है । यद्यपि प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों के मूल में ॥आत्मा॥ जीव प्रमुख सत्ता है किन्तु जैनों की जीव सम्बन्धी धारणा संतोषप्रद नहीं है । यहाँ आत्मा शरीर इन्द्रिय सीमित एक जीवात्मा के रूप में ही मानी गयी है । यहाँ आत्मा वह शुद्ध संश्लेषणात्मक सार्वभौम सर्वोच्च चेतन इकाई नहीं मानी गयी है जो ज्ञानों और अनुभवों में शुद्ध चेतना के रूप में सामंजस्य स्थापित करती है । इसे सार्वभौम चैतन्य नहीं माना जा सकता । जीव के रूप में आत्मा, आत्मा का व्यावहारिक रूप है जो कि शरीर इन्द्रिय आदि भौतिक उपाधियों से युक्त होता है । यह जीव अतीन्द्रिय ज्ञान का ज्ञाता नहीं हो सकता । इस जीव का स्वरूप आत्मप्रकाशकत्व, स्वपरावभासकत्व नहीं हो सकता । यदि हम जीव को वास्तविक आत्मा मान लिया जाये तो आत्माओं के अनेकत्व की समस्या उठ खड़ी होगी ।

आनुभविक दृष्टि से यह आत्मा जीव है किन्तु यह वैयक्तिक आत्मा निरपेक्ष ज्ञान का आधार नहीं बन सकती क्योंकि यह सीमित जीवात्मा है । शुद्ध चैतन्य के अन्दर विषयी और विषय का भेद नहीं होता क्योंकि उसमें पार-मार्थिक रूप से ज्ञाता और ज्ञान दोनों एक हो जाते हैं । यह निरपेक्ष आत्मा सभी ज्ञानों में शुद्ध चेतना के रूप में उपस्थित होती है विषयी और विषय दोनों इस परम चैतन्य के अन्दर आ जाते हैं । यही कारण है कि शंकराचार्य आनुभविक जगत और सीमित जीव दोनों को व्यावहारिक रूप से सत्य मानते हुये भी अन्तिम रूप में सत्य नहीं मानते तथा व्यावहारिक सत्य से ऊपर एक पारमार्थिक सत्य की

कल्पना करते हैं जो व्यावहारिक सत्ता का आधार है इसी के कारण अनुभव संभव होता है ।

शंकर भौतिक ऐन्द्रिक जगत का निराकरण नहीं करते किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान की समस्या का समाधान आनुभविक तथ्यों के द्वारा नहीं हो सकता । जैन दर्शन भी इस सत्य को अनुभव करता है जहाँ वह कहता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण भी यह मान लिया जाये, जो इन्द्रियादि बाह्य-साधनों की सहायता से उत्पन्न होता है तो उस स्थिति में सर्वज्ञता की सिद्धि सम्भव ही नहीं होगी । शंकराचार्य के व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टि के मूल में निर्भर उस विचार को कि सर्वोच्च अतीन्द्रिय ज्ञान आत्माभिमुख होता है वस्तु की ओर नहीं, इस रूप में उपस्थित किया गया कि केवलज्ञान को जो समस्त पदार्थों को जानने वाला कहा गया है वह केवल व्यवहारनय से कहा गया है क्योंकि निश्चय नय से तो केवलज्ञान आत्माभिमुख होता है, अपने स्वरूप में विमग्न होता है केवलज्ञान आत्मा के स्वप्रकाशक स्वरूप की अनुभूति है ।

ज्ञान के पूर्ण प्रकटीकरण की अवस्था में (केवलज्ञान) इन्द्रियादि से उत्पन्न बाह्य-वस्तु की अपेक्षा नहीं होती । इस कथन का तात्पर्य है कि अनुभवजन्य बाह्यजगत अन्तिम सत्य नहीं है । जब ज्ञाता आत्मा को जानता है तो ज्ञान आत्मगत (subjective) होता है इसे हम जैनों का प्रत्यक्ष ज्ञान कह सकते हैं और जब ज्ञाता वस्तु को जानता है तो वह ज्ञान वस्तुगत होता है जिसे हम परोक्ष ज्ञान कह सकते हैं । परोक्ष ज्ञान की सत्यता व्यवहारनय पर निर्भर है जबकि प्रत्यक्षज्ञान की सत्यता निश्चयनय पर निर्भर है । इन दोनों दृष्टियों को माने बिना दोनों ज्ञानों में कोई सामंजस्य स्थापित नहीं किया जा सकता । जैनाचार्यों का कहना भी है कि जब ज्ञान का स्वतः प्रकटीकरण पूर्ण होता है तब उसे किसी बाह्य-वस्तु की अपेक्षा नहीं होती तब पूर्णज्ञान केवलज्ञान अपने में सभी विशिष्ट ज्ञानों का समावेश कर लेता है । यदि हम इस समाधान को मानते तो

इंकार करते हैं तो प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ज्ञानों को एक साथ सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का विश्लेषण प्रच्छन्न रूप से प्रत्ययवाद की ओर ले जाता है जो कि जैनों को स्वीकार नहीं और प्रत्यक्षज्ञान को निरपेक्ष ज्ञानभावना वास्तववादी दर्शन से संगत नहीं है ।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. तत्त्वार्थसूत्र, 1, 26.
2. केवलमिदियरहियं असहायं तं सहाव णाणन्ति ।
   नियमसार, 11.
3. वही, 159.
   तत्त्वार्थसूत्र, 1.14
   परीक्षामुख, 1.12
4. प्रवचनसार, 1.28
5. सर्वार्थसिद्धि, 2.20
6. वही, 2.15, 19
7. तत्त्वार्थसूत्र, 2.21, पृ0 73-74.
8. प्रमाणमीमांसा, पृ0 17
9. वही, पृ0 17.
10. सर्वार्थसिद्धि, 2.20-5, 2.19-12.
11. न्यायकुमुदचन्द्र, पृ0 115.
12. तत्त्वार्थसूत्र, पृ0 73
13. सर्वार्थसिद्धि, 2.20-8, 9, 2.21-4,5.
    तत्त्वार्थसूत्र, 2.8, पृ0 73.
14.
14. तत्त्वार्थवार्तिक, 1, 2-20-25, 26-28.
15. वही, 1.12-2-3

16. वही, 1.11 – 2..5

17. सर्वार्थसिद्धि, 1.11

18. तत्त्वार्थसूत्र, 1.13

19. वही, 1.20

20. प्रमाणमीमांसा, 1.1–20
तत्त्वार्थसूत्र, 1.15

21. Human knowledge, it's scope and limit, Burtrend Russell, Allen and Uhwin, London, 1963, p. 212.

22. Ibid, p. 213–14.

23. Ibid, p. 218.

24. Ibid, p. 223.

25. Ibid, p. 223–24.

26. EINSTEin's conception of Science p. 402.

27. Relativity teaches that the meaning of objectivity cannot be captured whally in the external realm of Science, Finstein's conception of reality p. 252.

Ibid, p. 252.

28. We notice the chango in the concept of object : What was formerly a property of things becomes now a propert of things and their systems of reference.

The theory of Relativity and A priori knowledge, p. 97
p. 1 Hans Reichenpact, University of California press, 1965.

The Theory of Relativity and A prior knowledge, Hans Reichenbach, University of California press, 1965, p. 97.

29. The theory said that the measured lengths and time-intervals possess no absolute validity, but certain accidental elements; the chosen system of reference and the fact that a moving body will show contradiction relative to system ~~sk~~ at rest.

Ibid, p. 97.

30. That Reality, which is the foundation of all appearances, is obviously a many-dimensional arrangement of order which demands more dimensions then are at the disposal of our perceptual capacity ...., (critical realism and Relativity) Significance for our Picture of the world p. 603, A Lyscoensl.

Ibid, p. 603.

31. What the human mind contributes to the problems of time is not one definite time-order, but a plurality of possible time-order as the real one is left to empirical observation. Time is the order of cáualchains; that is the outstanding result of Einstein's discoveries.
The Philosophical significance of Relativity
p. 306, by Hans Reichenbact,

Ibid, p. 306.

32. जैनन्याय खण्डखाद्यम्, श्लोक 68.

33. वही, श्लोक 53.

34. सर्वार्थसिद्धि, 2.16

35. प्रमाणमीमांसा, 1.1-24, 34

36. तत्त्वार्थसूत्र, 2.14

37. वही, 2.21

38. प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ0 231.

39. प्रमाणमीमांसा, 1.1-25.

------:0:------

पंचम अध्याय

प्रमाण, नय और निक्षेप

पंचम - अध्याय

नय और प्रमाण

प्रमाण और नय के द्वारा जीवादि पदार्थों का ज्ञान होता है ।[1] जो पदार्थ प्रमाण और नय के द्वारा सम्यक् रीति से नहीं जाना जाता, वह युक्त होते हुये भी अयुक्त की तरह प्रतीत होता है ।[2] प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय होने पर वस्तु का निश्चय होता है ।[3] जो नय-दृष्टि से विहीन हैं उन्हें वस्तु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता ।[4]

जैन दार्शनिकों के उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट है कि वस्तु के ज्ञान में नय का उतना ही महत्व है जितना प्रमाण का । वस्तु का ज्ञान नय और प्रमाण दोनों के द्वारा प्राप्त होना चाहिये । नय ज्ञान का क्या तात्पर्य है ? यदि प्रमाण के द्वारा सत्य ज्ञान प्राप्त होता है तो नय ज्ञान का क्या औचित्य है ? तथा नय का प्रमाण से क्या भेद है ? अथवा क्या संबंध है ? ये सभी प्रश्न विचारणी हैं ।

जैन दार्शनिक इस तथ्य पर विचार करते हैं कि सामान्यतः मनुष्यों के वस्तु प्रत्यक्षीकरण में भिन्नता दिखायी पड़ती है । यहाँ तक कि विरोधी प्रत्यक्ष भी होते हैं । स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि वस्तु एक होते हुये भी उसमें विरोधी धर्मों की प्रतीति क्यों होती है ? एक तरफ तो इसका तात्पर्य है कि वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों का अस्तित्व संभव है और दूसरी तरफ वस्तु - प्रत्यक्षीकरण सिर्फ वस्तु-सापेक्ष ही नहीं प्रतीत होता बल्कि - उस प्रत्यक्ष में ज्ञाता की स्थिति भी प्रभावी होती है ।

जैनाचार्य वस्तु की विरुद्ध-धर्मता का समर्थन करते हुये कहते हैं जिस वस्तु को एक भाग में देखा उसी को अन्य भाग में नहीं देखा - ऐसा स्पष्ट व्यवहार लोक में देखा जाता है और इस व्यवहार के कारण भागभेद से एक ही वस्तु में दर्शन और अदर्शन इन दो विरुद्ध धर्मों का समावेश स्वीकार किया जाता है और इस प्रकार एक वस्तु में विरुद्ध एवं विभिन्नत्यता भी संभव होती है । देश, काल और पुरुष के अपेक्षा-भेद से एक ही वस्तु में विरुद्धता एवं विभिन्न स्वता अत्यन्त

युक्तिसंगत है ।[5]

इससे स्पष्ट है कि वस्तु का ज्ञान वस्तु की विशिष्ट दैशिक कालिक स्थिति ज्ञाता की विशिष्ट स्थिति और शक्ति के सापेक्ष प्रतीत होता है । अतः ज्ञान में इन अपेक्षाओं का निरूपण आवश्यक है । यही कारण है जैन दर्शन में वस्तु का ज्ञान चार अपेक्षाओं पर निर्भर माना गया है – द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव । इन अपेक्षा भाव से प्राप्त ज्ञान को जैन-दर्शन में "नय" कहा गया है ।[6] नय ज्ञाता द्वारा एक विशिष्ट दृष्टि से अनंतधर्मात्मक वस्तु के एक विशिष्ट धर्म का ज्ञान है ।[7]

रसेल का विचार:

यहाँ पर रसेल के कुछ विचारों का उल्लेख आवश्यक है । पाश्चात्य दर्शन के आधुनिक युग के प्रमुख विचारक रसेल और जैन दर्शन के विचारों में काफी अन्तर होते हुए भी रसेल आधुनिक पाश्चात्य जगत के ऐसे दार्शनिक हैं जिनके कुछ विचार जैन दर्शन के कुछ विचारों से काफी समानता रखते हैं ।

रसेल भी इस प्रश्न को उठाते हैं कि यद्यपि प्रत्येक मन प्रत्येक क्षण इस त्रिआयामी जगत को देखता है किन्तु किन्हीं भी दो मनों को यह एक समान नहीं दिखाई देता । इस जगत में एक मन जो प्रत्यक्षीकरण करता है उसमें दूसरे मन के प्रत्यक्षीकरण से समानता नहीं होती । अन्य शब्दों में, प्रत्येक मन का प्रत्यक्षीकरण का अपना निजी जगत होता है जो दूसरे मनों के प्रत्यक्षीकरण से भिन्न होता है किन्तु फिर भी उसका अपना अस्तित्व होता है । इस दृष्टि से जगत के अनंत पक्ष होंगे जो किसी मन द्वारा प्रत्यक्षीकृत नहीं किये गये किन्तु फिर भी उनका अस्तित्व है क्योंकि वे मनों द्वारा प्रत्यक्षीकरण का विषय बनाये जा सकते हैं ।[8]

इस जगत के एक विशिष्ट मन द्वारा प्रत्यक्षीकरण को रसेल दृष्टिकोण (Perspective) कहते हैं, तथा एक मन द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत को (Private World) इसे ही जैन दार्शनिक "नय" कहते हैं । रसेल इस Private World

को "प्रत्यक्षीकृत दृष्टिकोण" ‖ Perceived Perspective ‖ कहते हैं ।
प्रत्यक्षीकृत और अप्रत्यक्षीकृत अनंत पक्षों वाले इस जगत को रसेल system of Perspective कहते हैं ।[9]

इस समय हम जिस वस्तु का प्रत्यक्षीकरण कर रहे हैं वह वस्तु का एक पक्ष है जो पक्षों के समूह का एक अंग है । प्रत्येक पक्ष वास्तविक है । जैनों का नय से यही तात्पर्य है जो रसेल का Perspective से है । किन्तु रसेल का भौतिक वस्तुजगत विषयक विचार अनिश्चित और अस्पष्ट प्रतीत होता है वहीं जैन दर्शन में भौतिक जगत के वास्तविक अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं है । रसेल का कथन है कि वस्तु के सभी पक्ष वास्तविक हैं किन्तु वस्तु विभिन्न इन्द्रिय प्रदत्तों द्वारा निर्मित मात्र तार्किक संरचना है जो विभिन्न दृष्टिकोणों ‖ Perspective ‖ में प्रस्तुत होता है । इसका तो तात्पर्य होगा वस्तु जगत आत्मनिष्ठ अथवा कल्पनात्मक होना । किन्तु रसेल इसे स्वीकार नहीं करना चाहते और कहते हैं कि भौतिक जगत का यद्यपि अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है किन्तु उनके अस्तित्व के विषय में संदेह नहीं किया जा सकता ।[10] किन्तु जैन दर्शन में "नय" ज्ञान को जो वस्तु के एक पक्ष का ज्ञान है वास्तविक माना है वहीं अनंतधर्मात्मक वस्तु का भी वास्तविक अस्तित्व माना है जो प्रमाण ज्ञान का विषय है ।

<u>नय और प्रमाण का संबंध</u> :

अब एक प्रश्न उठता है कि जैन दार्शनिक वस्तु का ज्ञान नय और प्रमाण दोनों के द्वारा मानते हैं, तो नय और प्रमाण ज्ञान में क्या संबंध है ? जैन दार्शनिक इस विषय पर पर्याप्त विचार करते हैं -

‖1‖ प्रमाण से जानी हुई वस्तु के द्रव्य अथवा पर्याय में वस्तु के निश्चय करने को "नय" कहते हैं ।[11]

‖2‖ प्रमाण से ग्रहण किये गये पदार्थ के एक देश में वस्तु का निश्चय करने वाले

ज्ञान को "नय" कहते हैं ।[12] विधि प्रतिषेधात्मक पदार्थ प्रमाण का विषय है । तथा इस प्रमाण के विषय में से किसी एक धर्म को मुख्य और दूसरे को गौण करके मुख्य धर्म के निरूपण में जो हेतु है वह नय है ।

13। नय प्रमाण के द्वारा जाने हुए पदार्थ के एक अंश रूप में ज्ञान में ज्ञाता की विशिष्ट मानसिक प्रवृत्ति को कहते हैं ।[13] नय में वस्तु के शेष अंशों का निषेध नहीं किया जाता उनकी उपेक्षा उस समय कर दी जाती है ।

14। प्रमाण पूर्ण वस्तु को ग्रहण करके सभी धर्मों के समुच्चय रूप वस्तु को जानता है और प्रमाण द्वारा गृहीत पदार्थ के एक देश में निश्चय कराने वाले ज्ञान को नय कहते हैं ।[14] नय दृष्टि से वस्तु को ग्रहण करता है किन्तु वस्तु एक धर्मरूप ही नहीं है, उसमें तो अनेकों धर्म हैं इसलिए सभी नय सापेक्ष अवस्था में ही सत्य होते हैं । आचार्य का कथन है कि अनेक स्वभावों से, परिपूर्ण वस्तु को प्रमाण के द्वारा ग्रहण करके तत्पश्चात् एकान्तवाद का नाश करनेके लिए नयों की योजना करनी चाहिये ।[15]

15। जीवादि ज्ञात तत्वों का ज्ञान दो प्रकार से होता है - एक देश से और सर्वदेश से । प्रमाण के द्वारा सर्वदेश से ज्ञान होता है और नयों के द्वारा एक देश से ज्ञान ।[16]

16। सम्यक् प्रकार के अर्थ निर्णय करने को प्रमाण कहते हैं ।[17]

17। प्रमाण सर्वनय रूप होता है । नय वाक्यों में स्यात् लगाकर बोलने को प्रमाण कहते हैं ।

उपर्युक्त मतों से एक सामान्य निष्कर्ष निकलता है कि प्रमाण पूर्ण वस्तु का ज्ञान है और उसी वस्तु के एक अंश का ज्ञान नय है । लेकिन यदि ऐसा है तो नय को प्रमाण में शामिल कर लेना चाहिये ; नय को अलग से उल्लेख करने की क्या आवश्यकता है

जैनाचार्य इस बात को नहीं मानते क्योंकि उनका कथन है कि नय प्रमाण का अंश तो है किन्तु अंश होने से स्वयं प्रमाण नहीं हो जाता । अकलंक देव के मत में वस्तु का एक देश न तो वस्तु है और न अवस्तु है । जैसे समुद्र के अंश को न तो समुद्र कहा जा सकता है और न असमुद्र कहा जाता है । यदि समुद्र का एक अंश समुद्र है तो शेष अंश असमुद्र हो जायेगा और यदि समुद्र का प्रत्येक अंश समुद्र है तो बहुत से समुद्र हो जायेंगे । ऐसी स्थिति में समुद्र का ज्ञान कहाँ हो सकता है ।[18]

इसी प्रकार माइल्लधवल कहते हैं कि नय प्रमाण से भिन्न हैं क्योंकि जैसे समुद्र का अंश न तो समुद्र ही है और न असमुद्र ही वैसे ही नय न तो प्रमाण है न अप्रमाण ही ।[19]

मल्लिसेन कहते हैं नय से सम्पूर्ण वस्तु का नहीं किन्तु वस्तु के एक देश का ज्ञान होता है । इसलिए जिस प्रकार समुद्र की एक बूँद को सम्पूर्ण समुद्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि समुद्र की एक बूँद को समुद्र कहा जाये तो शेष समुद्र के पानी को असमुद्र कहना चाहिये । अथवा समुद्र के पानी की अन्य बूँदों को भी समुद्र न कहकर बहुत से समुद्र मानने चाहिए । समुद्र की एक बूँद को असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता । यदि ऐसा कहा जाये तो शेष अंश को समुद्र नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वस्तु के एक अंश के ज्ञान को प्रमाण अथवा अप्रमाण नहीं कहा जा सकता । इसलिए नय को प्रमाण और अप्रमाण दोनों से अलग मानना चाहिये ।[20]

अकलंक इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण किन्तु ज्ञानात्मक है अतः प्रमाण का एक देश है इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है ।

इस शंका के उत्तर में कि नय प्रमाण और अप्रमाण दोनों ही न हो, ऐसा

कैसे हो सकता है ' अकलंक देव कहते हैं कि प्रमाणता और अप्रमाणता के अतिरिक्त भी एक तीसरी स्थिति है "प्रमाणैकदेशता" अर्थात् प्रमाण का एकदेशपना प्रमाण ही है, क्योंकि वह प्रमाण से सर्वथा अभिन्न नहीं है तथा न अप्रमाण ही है क्योंकि, प्रमाण का एकदेश प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है ।[2] वस्तुतः नय को प्रमाण और अप्रमाण दोनों की कोटि में नहीं रखा जाता है । इसका कारण है कि नय प्रमाण का अंश नहीं वरन् ज्ञान के प्रमाण की कोटि में आने के पूर्व एक विश्वास या प्रारम्भिक प्राक्कल्पना की स्थिति है ।

जैन दार्शनिकों का नय विषयक उपर्युक्त विचार तार्किक दृष्टि से बड़ा अस्पष्ट और विरोधी है । उदाहरणार्थ -

1. वस्तु सत् है ।
2. स्यात् वस्तु सत् है ।

यदि हम स्याद्वादमंजरीकार के कथन को मान लें कि नय वाक्यों में स्यात् लगा देने से वह प्रमाण बन जाता है तो इसका तात्पर्य होगा प्रथम वाक्य नय है और द्वितीय वाक्य प्रमाण है किन्तु ऐसा तार्किक दृष्टि से कैसे संभव है क्योंकि दोनों कथनों द्वारा व्यक्त अभिप्राय तो एक ही है केवल स्यात् शब्द का प्रयोग नय और प्रमाण के बीच भेद का उचित आधार नहीं है ।

इसी प्रकार,

(1) x has many properties such as a, b, c, d, e... etc.

यह प्रमाण ज्ञान है क्योंकि यह वस्तु x में अनेकों गुणों को स्वीकार कर रहा है किन्तु निम्नलिखित वाक्य नय हैं क्योंकि वे एक वस्तु x में एक विशेष गुण स्वीकार या अस्वीकार कर रहे हैं -

(2) Syat x has the property a.
(3) Syat x has the property b.

(4) Syat X does not have the property a.

(5) Syat X does not have the property b.

यदि वस्तुओं में एक गुण a है तो द्वितीय नय वाक्य स्यात् वस्तु x में b गुण है यह कथन आंशिक होते हुये भी तार्किक दृष्टि से सत्य है । किन्तु यदि वस्तु में b गुण नहीं है तो चौथा नय वाक्य स्यात् वस्तु x में b गुण नहीं है तार्किक दृष्टि से असत्य होगा जबकि प्रत्येक नयात्मक कथन को विशिष्ट दृष्टिकोण से क्योंकि सत्य माना जाता है इसलिए उपर्युक्त तार्किक दृष्टि से असत्य कथन को सत्य माना जायेगा ।

इसी प्रकार, नय वाक्य के कुछ और उदाहरण देखें -

(6) x has the property a.

(7) Syat x has the property a.

(8) x does not have the property b.

(9) Syat x does not have the property b.

स्पष्ट है कि प्रमाण वाक्य (1) के सत्य होने पर तार्किक रूप से दूसरे और चौथे वाक्य सत्य होंगे किन्तु जैन दृष्टि से यह कथन दुर्नय माने जायेंगे क्योंकि इनके पहले स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । जब एक वस्तु x में निश्चित रूप से एक गुण है तो इस कथन में कि स्यात् x में a गुण है इस नय वाक्य के सत्य होते हुए भी इसकी सार्थकता क्या है? ज्ञानमीमांसा में अलग से इसके उल्लेख की क्या आवश्यकता है? तथा जब वस्तु x में a, b, c, d, e आदि गुण हैं तो स्यात् x में b गुण नहीं है, चाहे एकान्तवादी दृष्टि से ही क्यों न सत्य माना जाये तार्किक दृष्टि से सत्य नहीं माना जा सकता ।

जैन दार्शनिक जो समुद्र की उपमा के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि जिस तरह समुद्र की एक बूँद अथवा अंश को समुद्र नहीं कहा जा सकता, यह कथन भी उचित नहीं है । हम चावल का उदाहरण लें । चावल चाहे बोरे में भरकर रखा हो या एक छोटे बर्तन में हो चावल ही कहलायेगा ।

अतः स्पष्ट है कि प्रमाण और नय के बीच सम्बन्ध के विषय में जैन दार्शनिकों के विचार तार्किक दृष्टि से उचित नहीं हैं और इसलिए ज्ञानमीमांसीय सिद्धांत के रूप में यह ठीक नहीं है । ज्ञानमीमांसा में नय और प्रमाण को तार्किक आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है ।

उपर्युक्त नय विषयक जैन व्याख्याओं से यह प्रतीत होता है कि नय द्वारा जैन दार्शनिक जो कहना चाहते हैं उसका आशय है - ज्ञाता द्वारा वस्तु का एक विशेष दृष्टिकोण से प्रत्यक्षीकरण । दूसरे शब्दों में, वस्तु के विषय में या सत्ता के विषय में, व्यक्ति की अपनी मान्यतायें हो सकती हैं, अपने विश्वास हो सकते हैं जो उसके विशिष्ट दृष्टिकोण और प्रत्यक्षीकरण की विशिष्ट स्थितियों के परिचायक हैं । अतः स्पष्ट है कि जैन दर्शन के मत में नय व्यक्ति का सत्ता विषयक विशिष्ट विश्वास (Belief) है ।[22] साथ ही, जैन दर्शन इस संभावना को भी स्वीकार करता है कि नय द्वारा सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान नहीं मिलता अर्थात् वस्तु जो नय द्वारा जानी गयी उसके अतिरिक्त भी कुछ हो सकती है । फिर जैन दार्शनिक इस बात को मानते हैं कि नय अर्थात् व्यक्ति का व्यक्तिगत मत या परामर्श उस व्यक्ति के लिए सत्य हो सकता किन्तु आवश्यक नहीं कि वह दूसरे व्यक्ति के लिए अथवा सार्वभौमिक रूप से भी सत्य हो ।[23] वह दूसरे व्यक्ति के लिए असत्य हो सकता है । आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों की भाषा में कुछ Evident Proposition असत्य (False) भी हो सकते हैं[24] अर्थात् नय प्रमाण नहीं माना जा सकता । पाश्चात्य दर्शन में जो अन्तर Belief और Knowledge में है वही अन्तर जैन दर्शन में नय और प्रमाण में है ।

एक व्यक्ति जो एकदम रोशनी से अँधेरे कमरे में आता है तथा अँधेरे में पड़ी हुई एक रस्सी को देखकर उसे साँप समझ लेता है । किन्तु एक दूसरा व्यक्ति जो पहले से ही अँधेरे कमरे में है, अँधेरे का अभ्यस्त हो गया है, रस्सी को रस्सी के रूप में ही देखता है । अब नय विषयक जैन विचारों को देखें कि प्रत्येक नय अपने दृष्टिकोण से सत्य है तो स्पष्ट होगा कि पहले व्यक्ति का ज्ञान उसके दृष्टिकोण से सत्य है और दूसरे व्यक्ति का ज्ञान उसके दृष्टिकोण से सत्य है । किन्तु हम जानते हैं कि पहले व्यक्ति का ज्ञान भ्रम है और दूसरे व्यक्ति का ज्ञान सत्य है । ऐसा हम किस आधार पर कहते हैं' कहने का तात्पर्य है कि दोनों व्यक्तियों का ज्ञान उनके दृष्टिकोणों से सत्य होने पर भी प्रमाण नहीं है । प्रमाण केवल दूसरे व्यक्ति का ज्ञान है क्योंकि वह सत्यापित हो चुका है ।

इसका तात्पर्य है कि कुछ वाक्य (Proposition) जो किसी व्यक्ति के लिए सत्य सिद्ध (Evident) हों वे असत्य (False) भी हो सकते हैं और कुछ कथन ज्ञाता के बिना जाने सत्य भी हो सकते हैं ।[25] इसका अभिप्राय कि किसी ज्ञाता के लिए सत्य कथन (नय) का सत्यता और असत्यता से तार्किक दृष्टि से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है । यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञाता के दृष्टिकोण से सत्य सिद्ध (Evident) कथन तार्किक दृष्टि से भी सत्य हों । यह अप्रमाणित व असत्यापित ज्ञान है ।

इसका तात्पर्य हुआ कि वस्तु व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण (नयज्ञान) से परे भी कुछ हो सकती है जो कि प्रमाण का विषय है । प्रमाण अनिवार्य रूप में सत्यापित ज्ञान होता है और नय असत्यापित । हमारा नयज्ञान (व्यक्तिगत मत, विश्वास) जब सत्यापित होता है तब प्रमाण की कोटि में आता है । ऐसा प्रतीत होता है कि यह ही कारण है जिससे कुछ जैन दार्शनिक नय को न तो प्रमाण की और न ही अप्रमाण की कोटि में रखना चाहते हैं ।

यहाँ नय, ज्ञान और प्रमाण शब्दों के प्रयोग में कुछ विवाद हैं। जैन दार्शनिक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। यहाँ ज्ञान शब्द के प्रयोग में भ्रम उत्पन्न हो गया है। जब ज्ञान को वह जो सत्यापित हो चुका है इस अर्थ में लेते हैं तो ज्ञान को इस अर्थ में प्रमाण माना जा सकता है। यहाँ ज्ञान और प्रमाण एकार्थक हैं। किन्तु ज्ञान तो सत्य भी होता है, मिथ्या भी। ज्ञान शब्द से हमारा अभिप्राय क्या समझा जायेगा' प्रमाण शब्द के प्रयोग का यह ही कारण था। ज्ञान में सत्यता और असत्यता दोनों की संभावना होती है किन्तु प्रमाण सत्य ज्ञान होता है।

ज्ञान उत्पन्न होते ही उसकी सत्यता का निश्चय भी नहीं हो जाता अन्यथा भ्रम संभव न हो। अतः प्रत्येक नय दृष्टि में सत्यता की संभावना हो सकती है, अतः विशिष्ट दृष्टिकोण से नय सत्य है। किन्तु नयों की यह सत्यता सत्यता की ज्ञानमीमांसीय गारंटी नहीं हो सकती। किसी भी नय (विश्वास) को बिना प्रमाणित किए सत्य कहना ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से महत्वहीन है।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि कुछ लोगों को भ्रम और मिथ्या विश्वास होते हैं।[26] जैसे यह विश्वास कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है या पृथ्वी चपटी है आदि।

इससे संबंधित आधुनिक दार्शनिकों ने प्रश्न उठाया है कि भौतिक शास्त्र या अन्य शास्त्रों से संबंधित विश्वासों में भ्रम उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है लेकिन उनका कहना है कि तर्क के नियम अनिवार्य होते हैं अतः मिथ्या नहीं हो सकते। इसलिए तर्क के नियमों में विश्वास में कोई भ्रम नहीं हो सकता।

यहाँ इसके उत्तर में कहा गया कि गणित के नियम भी तो तर्कशास्त्र की भाँति अनिवार्य हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हमें असत्य गणितीय विश्वास नहीं होते। तात्पर्य है कि तार्किक नियम अनिवार्य सत्य हो सकते हैं किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि तर्कशास्त्र में मिथ्या विश्वास नहीं होते।[27]

अतः स्पष्ट है कि विश्वास चाहे भौतिक क्षेत्र से संबंधित हों अथवा शुद्ध वैचारिक क्षेत्र से, विश्वासों के असत्य होने की संभावना होतीहै इसलिए विश्वासों को सत्यापित किये बिना ज्ञान नहीं माना जा सकता ।[28]

किसी कथन पर विश्वास करना उस पर अविश्वास करने या उसको न मानने (Withhold) से अधिक उचित है जब तक कि उसके विपक्ष में कोई तर्कयुक्त संदेह न हो या उसके पक्ष में प्रमाण न हो[29] । यहाँ पर भी सत्यापन का प्रश्न उपस्थित हो जाता है । नय और प्रमाण के मूल में यही सत्यापन का प्रश्न ही है । प्रमाणज्ञान सत्यापित नय (विश्वास) है ।

ज्ञानमीमांसा के आधुनिकतम रूप का प्रतिनिधित्व करने वाले Chisholm की भाषा में इस समस्या को इस प्रकार रखेंगे । कोई भी कथन जिस पर कोई व्यक्ति विश्वास करता है उसके लिए स्वीकृति योग्य (Acceptable) होंगे । नय विशिष्ट व्यक्ति के लिए स्वीकृतियोग्य (Acceptable) है किन्तु ये स्वीकृतियोग्य (Acceptable) कथन क्या ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से तार्किक संदेह के परे भी होंगे ' तार्किक संदेह से परे (Beyond Reasonable Doubt) पद का स्वीकृतियोग्य (Acceptable) पद से अधिक ज्ञानमीमांसीय महत्व है ।[30]

उदाहरण के लिए, यह कहना कि मंगल-ग्रह में जीवन है, यह कथन एक पूर्वकल्पना, एक विश्वास के रूप में स्वीकृतियोग्य (Acceptable) हो सकता है किन्तु ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इसे ज्ञान की कोटि में तब तक नहीं रखा जा सकता जब तक कि इसे तार्किक दृष्टि से प्रमाणित न कर दिया जाये ।

मंगल ग्रह पर जीवन है और मंगलग्रह में जीवन नहीं है यह दोनों ही कथन स्वीकृतियोग्य (Acceptable) हैं क्योंकि दोनों के पक्ष या विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं दिया जा सका है । जैन दृष्टि में ये अपेक्षा भेद से सत्य हैं ही ।

"मंगल गृह पर जीवन है" यह स्वीकृतियोग्य । Acceptable । कथन आवश्यक नहीं है कि तार्किक संदेह के परे । Beyond Reasonable Doubt । भी हों । यद्यपि ऐसा हो भी सकता है किन्तु आवश्यक नहीं है कि ऐसा हो ही । अतः यद्यपि इस कथन को मानना या न मानना । Withhold । करना इन पर विश्वास करने की अपेक्षा अधिक तार्किक नहीं है किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि इनको स्वीकार कर लेना भी इनको न मानने । Withhold । से अधिक तार्किक नहीं है । अतः कोई भी कथन मात्र स्वीकृतियोग्य । Acceptable । होने से प्रमाण नहीं हो सकते ।

अब उन कथनों की स्थिति क्या होगी जो स्वीकृतियोग्य । और तार्किक संदेह से परे । Beyond Reasonable Doubt । दोनों हैं क्योंकि कुछ कथन ऐसे हैं जो स्वीकृतियोग्य । Acceptable । हैं और तार्किक संदेह के परे भी हैं तो भी क्या ऐसे कथनों को निश्चित ज्ञान की श्रेणी में रखा जा सकता है' उदाहरण के लिये, मंगलगृह पर जीवन है यह कथन स्वीकृतियोग्य । Acceptable । भी है और तार्किक संदेह से परे । Beyond Reasonable Doubt । भी किन्तु यह निश्चित ज्ञान नहीं है । जैसा कि अभी ऊपर स्पष्ट हो चुका है इस कथन पर विश्वास करना इस कथन को न मानने । Withhold । से अधिक उचित है क्योंकि कुछ कथन हमारे जाने बिना भी सत्य हो सकते हैं किन्तु ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से इसे पूर्णतया निश्चित । Absolutely certain । कहना इसके विषय में पर्याप्त से अधिक कथन है ।[3]

इस बात को एक और उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है । जब तक चन्द्रमा पर मनुष्य नहीं पहुँचा था तब तक यह कथन कि "चन्द्रमा पर जीवन है" और इसका विरोधी कथन "चन्द्रमा पर जीवन नहीं है" प्राक्कल्पनाओं के रूप में संभाव्य सत्य थे । आधुनिक दर्शन की भाषा में स्वीकृतियोग्य । Acceptable । भी थे तार्किक संदेह के परे । Beyond Reasonable Doubt ।

भी थे। किन्तु दोनों ही कथन पूर्णतया निश्चित नहीं। Absolutely certain। थे क्योंकि प्रमाणित नहीं थे। चन्द्रमा पर मनुष्य के पहुँचने के बाद "चन्द्रमा पर जीवन नहीं है" यह कथन प्रमाणित हो गया इसलिए निश्चित ज्ञान।प्रमाण। की कोटि में आ गया। यदि विरोधी कथन "चन्द्रमा पर जीवन नहीं है" प्रमाणित हो जाता तो वह प्रमाण की कोटि में आ जाता।

ऐसे कथनों की वास्तविक स्थिति व्यक्त करने के लिये जो स्वीकृतियोग्य। Acceptable। व तार्किक संदेह से परे। Beyond Reasonable Doubt। हैं किन्तु पूर्णतया निश्चित। Absolutely certain। नहीं हैं, वास्तविक स्थिति व्यक्त करने के लिए Chisholm सिद्ध। Evident। शब्द का प्रयोग करते हैं, क्योंकि कुछ कथन ऐसे हैं जो सिद्ध। Evident। होते हुए भी असत्य हों। वे एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं।[32] "वह देखता है कि छत पर एक बिल्ली बैठी है" क्या इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि छत पर वास्तव में एक बिल्ली बैठी है। इस कथन की व्याख्या दो अर्थों में की जा सकती है - एक तो ऐसा हो सकता है कि छत पर वास्तव में बिल्ली हो और दूसरे, जब वह देखता है कि वहाँ एक बिल्ली है तो हो सकता है उसे ऐसा भ्रम ही हो रहा हो, वास्तव में वहाँ कोई बिल्ली न हो।

समस्या यह उठती है कि उस व्यक्ति के ज्ञान को जो सत्य है किस प्रकार उस व्यक्ति के ज्ञान से भेद करेंगे जो भ्रम में है। यहाँ Chisholm ने Herbert Heidelderger[33] को उद्धृत किया है। एक मनुष्य विश्वास कर रहा है कि वह किसी वस्तु को पीले रंग की देख रहा है और इसलिए यह कथन कि वह वस्तु पीले रंग की है उस व्यक्ति के लिए तार्किक है। किन्तु हम कल्पना करें कि मान लीजिए निम्न तथ्य उस व्यक्ति को ज्ञात है कि उस वस्तु पर एक पीला प्रकाश चमक रहा है। वह स्मरण करता है कि एक क्षण पूर्व जब उसने प्रत्यक्षीकरण किया था वह वस्तु सफेद थी और उस समय वस्तु का कोई रंगीन प्रकाश नहीं चमक रहा

था। कल्पना कीजिए कि इन प्रमाणों के होने पर भी वह विश्वास करता है कि वस्तु पीले रंग की है यद्यपि अब यह कहना सत्य नहीं है कि वस्तु पीले रंग की है। केवल इस तथ्य से कि एक मनुष्य विश्वास करता है कि वह एक वस्तु में गुण × है, प्रत्यक्ष करता है इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वह कथन तार्किक भी है क्योंकि अन्य प्रमाण हो सकते हैं जैसा कि उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ है, जिन्हें उस विशिष्ट कथन के साथ जोड़े जाने पर वे उस कथन को अतार्किक बना सकते हैं।[34]

इसका तात्पर्य यह है कि सभी सिद्ध (Evident) कथन सत्य हों ऐसा आवश्यक नहीं है क्योंकि कुछ सिद्ध (Evident) कथन असत्य भी होते हैं। चूँकि Evident कथन सत्य और असत्य दोनों हो सकते हैं इसलिए उन्हें ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि ज्ञान प्रमाणित होता है। ऐसे कथनों को केवलसिद्ध सत्य विश्वास (Evident True Belief) कहा जा सकता है।

सत्य विश्वास (True Belief) के ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जो ज्ञान नहीं हैं।[35] उदाहरण के लिए एक व्यक्ति मान लेता है कि मैदान में एक भेड़ है और इस प्रकार यह कथन उसके लिए सिद्ध (Evident) है कि मैदान में भेड़ है। अब मान लीजिए कि भूल से उस व्यक्ति ने एक कुत्ते को भेड़ मान लिया है और इसलिए वह जो भेड़ देख रहा है, वास्तव में भेड़ नहीं है। किन्तु ऐसा भी संभव है कि उस व्यक्ति के जाने बिना ही मैदान के एक दूसरे भाग में भेड़ है। इसलिए यह कथन कि मैदान में एक भेड़ है सत्य (True) भी है और सिद्ध Evident भी है तथा उस व्यक्ति के लिए स्वीकृतियोग्य (Acceptable) भी है किन्तु परिस्थितियाँ यह स्वीकार नहीं करतीं कि उस व्यक्ति को ज्ञान है कि मैदान में एक भेड़ है।

इसका तात्पर्य है कि कोई भी सत्य विश्वास (True Belief) जब किसी असत्य वाक्य (False Proposition) को सिद्ध (Evident) न

बनाये तब ज्ञान (Knowledge) होगा । अर्थात् जब तक सत्यविश्वास (True Belief) पूर्णरूप से प्रमाणित (Justify) न किया जा सके ज्ञान (Knowledge) नहीं कहा जा सकता ।[36]

अन्त में निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि विश्वास (Belief) और ज्ञान (Knowledge) में सत्यापन के दृष्टिकोण से अन्तर है । प्रमाणित (Confirmed) और सत्यापित नय (Justified Belief) प्रमाण है । ज्ञान शुरू में नय (विश्वास) के रूप में ही होता है क्योंकि कोई भी ज्ञान उत्पन्न होते ही प्रमाण नहीं हो जाता किन्तु वह नय प्रमाण नहीं कहा जा सकता जब तक कि सत्यापित न हो जाये ।

जैन दर्शन का मौलिक तत्व सापेक्षता का सिद्धान्त है । व्यवहारवादी और सापेक्षतावादी जैन-दार्शनिक वस्तु-ज्ञान, शब्द, अर्थ और व्यवहार प्रत्येक स्तर पर अपेक्षाओं, आदेशों और दृष्टियों के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, नयवाद और निक्षेपवाद इसी श्रृंखला की कड़ियाँ हैं । जैनदार्शनिकों ने निक्षेपतत्व को भी नयों की तरह विकसित किया है ।

निक्षेपवाद भाषा का लाभ है । नय अनेक स्वभाववाली वस्तु की ज्ञाता के अभिप्राय के अनुसार प्रतीति है । नय ज्ञाता के अभिप्राय से एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को ग्रहण करता है । इस नयात्मक ज्ञान की भाषाई अभिव्यक्ति ही निक्षेप योजना है । निक्षेप योजना नयात्मक ज्ञान की भाषाई अभिव्यक्ति में सापेक्षता की द्योतक है । उसी सापेक्षता की जो जो जैनदर्शन के समस्त सिद्धान्तों में व्याप्त है । निक्षेपवाद नयवाद की अनिवार्य परिणति है ।

वस्तुतः प्रयोग में विभिन्न शब्द व्यवहारों के कारण जो विरोधी अर्थ उपस्थित होते हैं उन विरोधी अर्थों को समझते हुये अपने अभीष्ट अर्थ को उपस्थित करना ही निक्षेप-योजना का आधार है ।

यहाँ यह दिखाने का स्पष्ट प्रयास किया गया है कि ऐकान्तिक आग्रह अथवा विश्वास ज्ञान के स्तर पर भी हो सकता है और उसकी अभिव्यक्ति के स्तर पर भी उसी प्रकार हो सकता है। अभिव्यक्ति का संबंध शब्द से है अतः जैनतार्किकों ने बताने का प्रयास किया कि शब्दों के उचित अर्थ को अथवा वक्ता के अभीष्ट अर्थ को न समझना मिथ्यात्व अथवा ऐकान्तिक आग्रह का कारण है। इसी मिथ्यात्व के निराकरण का कार्य जो कि शब्द प्रयोग से सम्बन्धित है निक्षेप योजना का आधार है। निक्षेप का अर्थ है अर्थ निरूपण पद्धति।

जैन दार्शनिकों ने शब्दों के प्रयोगों को चार प्रकार के अर्थों में बाँटा है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।[37] प्रत्येक शब्द का एक व्युत्पत्तिमूलक अर्थ होता है किन्तु कुछ शब्दों का प्रयोग इस व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में न करके नाम मात्रकेलिये किया जाता है। यह नाम निक्षेप है। उदाहरण के लिये इन्द्र शब्द का प्रयोग व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में नहीं किन्तु नाममात्र का निर्देश करने के लिये हुआ है।

इसी प्रकार जब इन्द्र की मूर्ति को इन्द्र कहा जाता है तो यह शब्द प्रयोग का अभिप्राय है कि वह मूर्ति इन्द्र का प्रतिनिधित्व करती है, यह स्थापना निक्षेप है।

इसी प्रकार द्रव्य निक्षेप का विषय द्रव्य है अर्थात् जहाँ किसी द्रव्य के, परिवर्तनशील भविष्य, भूत और वर्तमान पर्यायों को ध्यान में रखते हुये जो औपचारिक शब्द प्रयोग करते हैं वह द्रव्य निक्षेप है।

इसी प्रकार किसी शब्द का उसके व्युत्पत्ति सिद्ध अर्थ में प्रयोग करना भाव निक्षेप है।[38]

अतः स्पष्ट है कि निक्षेप योजना के पीछे भी जैन दार्शनिकों का अनेकांतवादी दृष्टिकोण ही है। वस्तु और भाषा में अनिवार्य संबंध है। जैनमत में अनेक

धर्मात्मक वस्तु का एक समय में एक ही गुण का ज्ञान हो सकता है । यही कारण है कि जैन दार्शनिकों ने नयों के कई प्रकार माने हैं । भाषा में इस सापेक्ष ज्ञान की अभिव्यक्ति चारों निक्षेपों का उद्देश्य है । शब्द के द्वारा जब किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता तब तक ज्ञान का नयात्मक स्वरूप प्रकट नहीं होता । इन्द्रियों से यदि घट ज्ञान हो तो तत्त्वार्थभाष्यकार के अनुसार वह नयज्ञान नहीं है । घट कहने पर जब ज्ञान होता है तभी वह श्रुतज्ञान होता है ।

यही कारण है कि वस्तु का ज्ञान प्रमाण और नय से होता है । मात्र इतना ही जैन दार्शनिकों के लिये पर्याप्त नहीं है । जैन दार्शनिक वस्तु के सम्यक ज्ञान के लिये प्रमाण और नय के साथ ही निक्षेप का भी उल्लेख करते हैं नयचक्र में कहा गया है कि जो पदार्थ प्रमाण नय और निक्षेप के द्वारा सम्यक् रीति से नहीं जाना जाता वह पदार्थयुक्त होते हुये भी अयुक्त की तरह प्रतीत होता है और अयुक्त होते हुये युक्त की तरह प्रतीत होता है । इसके बिना यथार्थ वस्तु की प्रतीति नहीं होती ।[39]

किन्तु प्रश्न उठता है कि प्रमाण और नय से वस्तु में ज्ञान के बाद निक्षेप का औचित्य क्या है ? इस प्रश्न पर माइल्लधवल का कहना है कि नय और प्रमाण से गृहीत वस्तु में निक्षेप योजना होती है जिसका उद्देश्य है अप्रकृत का निराकरण और प्रकृत का निरूपण ।[40]

आगे वे कहते हैं कि वस्तु प्रमाण का विषय है, वस्तु का एक अंश नय का विषय है और जो अर्थ नय और प्रमाण में निर्णीत होता है वह निक्षेप का विषय है ।[41]

शब्द के द्वारा जब तक किसी वस्तु का ज्ञान न हो तब तक ज्ञान का नयात्मक स्वरूप प्रकट नहीं होता । यही कारण है कि जो चार अर्थ नय कहे जाते हैं - नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार-नय और ऋजुसूत्र नय वे शब्द पर आश्रित हैं

बाकी तीन नय तो मुख्य रूप से शब्द पर ही आश्रित हैं, इसलिए उनके शब्दात्मक होने में कोई शंका नहीं है ।[42] कोई भी नय हो शब्द अथवा अर्थनय, शब्द सुनने के अनन्तर अपेक्षा से उत्पन्न होना नयात्मक होने के लिए आवश्यक है । जहाँ नयज्ञान है वहाँ अपरिहार्य रूप से अपेक्षा का होना आवश्यक है । ज्ञानस्वरूप नय अपेक्षात्मक शब्द बोध के रूप में होता है ।

जैन दार्शनिकों के मत में अर्थ में वाच्य रूप और शब्दों में वाचक रूप एक स्वाभाविक योग्यता मानी गयी है । इस योग्यता के कारण ही शब्द सत्य अर्थ का ज्ञान कराते हैं । इस प्रकार शब्द में पदार्थ का बोध कराने की शक्ति स्वभावतः विद्यमान है, किन्तु शब्द की अर्थबोधक शक्ति नियत नहीं है । बल्कि प्रत्येक शब्द में विश्व के समस्त पदार्थों का बोध कराने की शक्ति है किन्तु यह शक्ति होने पर भी मानव समाज द्वारा निर्धारित संकेत प्रणाली के अनुरूप ही शब्द अपने वाच्य का प्रतिपादक होता है । यदि ऐसा न हो तो शब्द के प्रयोग का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा ।

अतः स्पष्ट है कि नयज्ञान अपेक्षात्मकज्ञान है और ज्ञानस्वरूप नय अपेक्षात्मक शब्दबोध के रूप में होता है ।

निक्षेप-योजना जैनों की नयों की तरह ही मौलिक योजना है । आगमयुग में अनुयोग द्वार में निक्षेप को नय के साथ स्वतंत्र स्थान मिला जबकि प्रमाण को नहीं मिला ।[43] न्याय-युग में भी प्रायः सभी तार्किकों ने तत्त्व निरूपण में प्रमाण और नय के साथ ही निक्षेप का भी विचार किया । उमास्वाति का कथन है कि नाम आदि निक्षेपों से न्यस्त जीव आदि तत्त्वों का अधिगम प्रमाण और नय से करना चाहिए ।[44]

अतः स्पष्ट है कि भाषा और दर्शनमें जो एक गहरा संबंध है, इसे जैनदार्शनिकों ने तार्किक-भाववादियों से बहुत पूर्व समझ लिया था । जैसा विटगेन्स्टाइन कहते हैं कि परम्परागत दर्शनमें आई जो प्रतिज्ञप्तियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं, वे भाषा की दृष्टि से अस्पष्ट होती हैं ।[45] उसी तरह जैन दार्शनिक मानते हैं कि

प्रत्येक शब्द का एक व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ होता है किन्तु व्यवहार में सदैव इस अर्थ का प्रयोग नहीं होता। फलतः भिन्न-भिन्न शब्द व्यवहारों के कारण विरोधी अर्थ उपस्थित होते हैं।

निक्षेप का उद्देश्य उन सभी अर्थों को समझना और अभिप्रेत अर्थ का ज्ञान कराना है। जैसा कि विटेगन्स्टाइन कहते हैं कि यदि हम किसी प्रतिज्ञप्ति (Proposition) को समझ लें तो यह किस स्थिति को प्रकट करती है। यह भी समझा जा सकता है।[46] अतः इस विषय में जैनदार्शनिकों और तार्किक भाववादियों में समानता है कि दोनों भाषा और ज्ञान में घनिष्ठ संबंध मानते हैं।[47] सामान्य भाषा को त्रुटियुक्त पाते हैं तथा स्वीकार करते हैं कि स्पष्ट भाषा ही तत्त्व-निरूपण कर सकती है।

------:0:------

<u>सन्दर्भ और टिप्पणी</u>

1. तत्त्वार्थसूत्र, 1.16

2. नयचक्र, माइल्लधवल, संपा० कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, गाथा 163.

3. वही, गाथा 179.

4. वही, गाथा 181.

5. जैनन्यायखण्डखाद्य, श्लोक 53.

6. ज्ञेयस्य तु अर्थस्याध्यवसायान्तराणि एतानि ।
यथैता न विप्रतिपत्तयो द्रव्यस्याध्यवसायस्थानान्तराणि एतानि ॥
तत्त्वार्थसूत्र, 1.35

7. अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुना न्यतमपर्यायाधिगमे ।
कर्त्तव्ये जात्युक्त्यपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नयः ॥
कषायपाहुड, जयधवला टीका, 81.

8. The three dimensional world seen by one mind therefore contains no place in common with that seen by another for places can only be constituted by the things in or around them. Hence we may suppose, inspite of the differences between the different worlds, that each exists entirely exactly as it perceived, and might be exactly as is even if it were not perceived. We may further suppose that there are an infinite number of such worlds which are infact unperceived......

On our knowledge of the external world, p. 94.

9. "......... I shall confine the expression "Private worlds". To such views of universe which are actually perceived. Thus a private world is a perceived "perspective" but then may be any number of unperceived perspectives.............

10. Thus an aspect of a 'thing' is a member of the system of aspects which is the 'thing' at that moment ...... All the aspect of a thing are real, where as the thing is a merely logical construction. ibid P96

11. प्रमाणेन परिच्छिन्नस्य वस्तुनः द्रव्ये पर्याये वा
वस्त्वध्यवसायो नय इति यावत् ।
-षट्खंडागम अनुयोगद्वारसूत्र

12. प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नयः ।
-कषायपाहुड़ जयधवलीटीका, पृ0 207, श्लोक 78.

13. प्रमाणनयतत्वालोकालंकार, 7.1

14. नयचक्र, गाथा 168, 169.

15. वही, गाथा 162.

16. तत्वार्थश्लोकवर्तिकान्तर्गतनयविवरण, श्लोक 1.

17. स्याद्वाद मंजरी, मल्लिसेन, सं0 ए0बी0 ध्रुव, बम्बई,
संस्कृत प्राकृत सीरीज, 1933, पृ0 251, श्लोक 28.

18. तत्वार्थवार्तिक, पृ0 भाग दो, पृष्ठ 132.

19. नयचक्र, गाथा 170, 171.

20. स्याद्वादमंजरी, पृ0 251.

21. न्यायकुमुदचन्द्र, 5.30

22. तत्वार्थसूत्र, 1.35

23. जैनन्यायखण्डखाद्य, श्लोक 40.

24. Theory of knowledge, R.M. Chisholm, Prentice Hall, 1977, p. 99, 103.

25. "But if it is possible for some propositions to be both evident and false, then as we shall see, it is also possible for a person to accept as true and evident proposition without there by knowing that that proposition is true ....'

- Theory of Knowledge, page 103.

26. "-------- we are all liable to hold atleast some false beliefs -----."

- Philosophy of Logic by Susan Haack, p. 232.

27. Ibid page 234.

28. "True belief is not yet sufficient for knowledge . For if a person cannot give an account or a justification for what he believes truely, then we usally do'nt say that we really knows.

29. -Problem in Philosophy East and West edited by R.T. Blackwood and A.L. Herman.
h is not more reasonable for s than accepting h."
h is acceptable for s = DF with holding .

Theory of Knowledge D1.2

30. Ibid, Page 6

31. नय Acceptable प्रमाण certain . Chisholm acceptable proposition और certain proposition मे अंतर करते हैं।

(1) h is acceptable for s = DF withholding h is not more reasonable for s than accepting h.

D1.3

(2) h is certain for s = DF h is beyond reasonable doubt for S, and there is no i Such that accepting i is more reasonable for s than accepting h.

Ibid D1.4

32. Ibid, Page 74

33. Ibid, Page 75

34. " -- Merely from the fact that a man believes that he perceives some thing to have a certain property F, it does not follow, accordingly that the proposition, that the something is F is reasonable one for him --- he may have other evidences which when combined with the evidence that he believes that he perceives somthing to have F, may make the proposition that something is F highly unreasonable.'

Ibid, page 75.

35. Cuatation of human knowledge, its scope and limit, by Bartrend Russell.

36. ..... without an account or justification, my true i is not knowledge........ Thus true beliefs still stas as a necessary but not a sufficient condition for knowledge ...."

Problems in Philosophy, East and West.

37. तत्त्वार्थसूत्र, 1.5-31-35.

38. तत्त्वार्थवार्त्तिक, पृ० 282.

39. नयचक्र, गाथा, 163-167.

40. वही, गाथा 169.
    तत्त्वार्थसूत्र, 105-25.

41. नयचक्र, गाथा 168.

42. अनुयोगद्वारसूत्र, सूत्र 148, 151, 156.

43. वही, 59.

44. तत्त्वार्थसूत्र, 1.5

45. Tractatus logico-Philosophicus, Ludevig Wittgenstein, P. 4.003

46. Ibid, P. 4.021

47. Ibid, P. 6.55

------:0:------

षष्ठ - अध्याय

अनुमान

षष्ठ-अध्याय

अनुमान

जैन दर्शन में अनुमान ज्ञान का साधन है किन्तु यहाँ अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण नहीं माना गया है । जैन प्रत्यक्ष और परोक्ष दो ही प्रमाण मानते हैं । अनुमान को परोक्ष प्रमाणों के अन्तर्गत ही मान लिया गया है ।[1] इसका कारण यह है कि यहाँ प्रमाणों में प्रत्यक्ष और परोक्ष के मध्य भेद का कारण है स्पष्टता और अस्पष्टता का होना । अकलंकदेव स्पष्टता की परिभाषा में कहते हैं कि अनुमान से, प्रत्यक्ष प्रमाण विशेष प्रतिभासित होता है[2] अर्थात् अनुमान को परोक्ष प्रमाण में इसलिए शामिल किया गया है क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान अनुमान से अधिक स्पष्ट है । यद्यपि उमास्वाति आगमिक परम्परा का अनुसरण करते हुए अनुमान को आभिनिबोधिक ज्ञान कहते हैं और उसे अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के अन्दर रखते हैं ।[3] कहीं-कहीं अकलंक भी इसे मानस-प्रत्यक्ष कहते हैं किन्तु सामान्य रूप से जैन दर्शन में अनुमान को परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मानने की ही परम्परा है ।

जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष-प्रमाण को अनुमान आदि परोक्ष प्रमाणों से स्पष्टज्ञान का सूचक मानते हुए भी यह मानते हैं कि अनुमान प्रमाण का एक साधन है और प्रत्यक्ष प्रमाण की भाँति परोक्ष प्रमाण भी सत्य को जानने में समर्थ हैं ।

देवसूरि का यहाँ तक कहना है कि यह कहना सत्य नहीं है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण सत्य ज्ञान के लिए परोक्ष-प्रमाण से अधिक विश्वसनीय साधन है । किन्तु साथ में वे इतना अवश्य जोड़ देते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है । फिर वे यह भी कहते हैं कि यदि अनुमान न हो तो प्रत्यक्ष-प्रमाण भी संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान की वैधता प्रत्यक्षीकृत वस्तुओं की प्रकृति के साथ अनुकूलता और प्रतिकूलता पर निर्भर करती है और इस अनुकूलता और प्रतिकूलता को अनुमान द्वारा ही खोजा जाता है ।[4]

अनुमान का लक्षण :

जैन दार्शनिकों ने हेतु से साध्य का ज्ञान होना अनुमान का लक्षण माना

है ।[5] हेतु के ज्ञान के आधार पर साध्य का ज्ञान होना तभी संभव है जब हेतु अनिवार्य रूप से साध्य से संबंधित हो तथा हेतु और साध्य सदैव साथ-साथ उपस्थित पाये गये हों । इसका तात्पर्य है कि अनुमान तभी संभव है जब हेतु और साध्य में अनिवार्यता का संबंध मान लिया जाये । जहाँ हेतु है है वहाँ साध्य है ; साध्य के बिना हेतु का पाया जाना असंभव है ।[6] बौद्धिक दार्शनिकों के समान जैन बैध हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षसत्व, ये तीन लक्षण नहीं मानते हैं ।[7] बौद्धों के इन तीन लक्षणों के अतिरिक्त नैयायिक हेतु में दो लक्षण और जोड़ देते हैं - अबाधित - विपक्षत्व और असत्-प्रतिपक्षत्व ।

नैयायिकों का खंडन :

जैन दार्शनिक बौद्धों और नैयायिकों का खण्डन करते हैं । पहाड़ पर आग है क्योंकि वहाँ पर धुआँ है" । इस उदाहरण में हेतु-धुँआ है जो पक्ष "पहाड़" पर है । किन्तु इस अनुमान "आवाज अनंत है क्योंकि दृश्य है" में हेतु "दृश्यता" है जिसकी विशेषता पक्षधर्मत्व नहीं है क्योंकि पक्ष "आवाज" में दृश्यता नहीं होती । जैन दार्शनिक हेतु की विशेषता के रूप में पक्षधर्मत्व को अनावश्यक सिद्ध करते हुए पानी में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से आकाश में वास्तविक चन्द्रमा के अस्तित्व की सिद्धि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।[8] इस अनुमान के उदाहरण में आकाश पक्ष है जिसमें वास्तविक चन्द्रमा है किन्तु साध्य अर्थात् वास्तविक चन्द्रमा का आकाश में अस्तित्व होना यहाँ हेतु, प्रतिबिम्बित चन्द्रमा से सिद्ध किया जा रहा है जो स्पष्ट रूप से (पक्ष) आकाश में नहीं होता इसलिए हेतु में पक्षधर्मत्व की विशेषता नहीं सिद्ध होती । आचार्य अकलंक का कहना है "शकट का उदय होगा कृतिका का उदय होने से" - इत्यादि, अनुमानों में कृति का का उदय पक्षधर्म नहीं है फिर भी उससे शकटोदय सिद्ध होता है । अतः पक्षधर्मत्व अव्याप्त होने से हेतु-लक्षण नहीं है ।[9]

यह सत्य नहीं है कि जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ पहाड़ भी है जैसे कि वहाँ

है ।[5] हेतु के ज्ञान के आधार पर साध्य का ज्ञान होना तभी संभव है जब हेतु अनिवार्य रूप से साध्य से संबंधित हो तथा हेतु और साध्य सदैव साथ-साथ उपस्थित पाये गये हों । इसका तात्पर्य है कि अनुमान तभी संभव है जब हेतु और साध्य में अनिवार्यता का संबंध मान लिया जाये । जहाँ हेतु है है वहाँ साध्य है ; साध्य के बिना हेतु का पाया जाना असंभव है ।[6] बौद्धिक दार्शनिकों के समान जैन बौद्ध हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षसत्त्व, ये तीन लक्षण नहीं मानते हैं ।[7] बौद्धों के इन तीन लक्षणों के अतिरिक्त नैयायिक हेतु में दो लक्षण और जोड़ देते हैं - अबाधित - विषयत्व और असत्-प्रतिपक्षत्व ।

<u>नैयायिकों का खंडन</u> :

जैन दार्शनिक बौद्धों और नैयायिकों का खण्डन करते हैं । पहाड़ पर आग है क्योंकि वहाँ पर धुआँ है" । इस उदाहरण में हेतु-धुँआ है जो पक्ष "पहाड़" पर है । किन्तु इस अनुमान "आवाज अनंत है क्योंकि दृश्य है" में हेतु "दृश्यता" है जिसकी विशेषता पक्षधर्मत्व नहीं है क्योंकि पक्ष "आवाज" में दृश्यता नहीं होती । जैन दार्शनिक हेतु की विशेषता के रूप में पक्षधर्मत्व को अनावश्यक सिद्ध करते हुए पानी में चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से आकाश में वास्तविक चन्द्रमा के अस्तित्व की सिद्धि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ।[8] इस अनुमान के उदाहरण में आकाश पक्ष है जिसमें वास्तविक चन्द्रमा है किन्तु साध्य अर्थात् वास्तविक चन्द्रमा का आकाश में अस्तित्व होना यहाँ हेतु, प्रतिबिम्बित चन्द्रमा से सिद्ध किया जा रहा है जो स्पष्ट रूप से ।पक्ष। आकाश में नहीं होता इसलिए हेतु में पक्षधर्मत्व की विशेषता नहीं सिद्ध होती । आचार्य अकलंक का कहना है "शकट का उदय होगा कृत्तिका का उदय होने से" - इत्यादि, अनुमानों में कृति का का उदय पक्षधर्म नहीं है फिर भी उससे शकटोदय सिद्ध होता है । अतः पक्षवृत्तित्व अव्याप्त होने से हेतु-लक्षण नहीं है ।[9]

यह सत्य नहीं है कि जहाँ-जहाँ धुँआ है, वहाँ पहाड़ भी है जैसे कि यहाँ

धुँआ है वहाँ आग है ।[10]

सपक्षसत्त्व भी हेतु की विशेषता नहीं हो सकती । "आवाज शाश्वत है क्योंकि श्रवणीय है", इस अनुमान में हेतु "श्रवणीयता" पक्ष आवाज का तो गुण हो सकती है किन्तु सपक्ष अर्थात् अन्य तत्त्वों का जो अनंत है ।जैसे काल। का गुण नहीं हो सकती ।

विपक्षसत्त्व भी वैध हेतु की विशेषता नहीं हो सकता । बौद्ध दार्शनिक जब विपक्षसत्त्व को वैध हेतु का लक्षण कहते हैं तब उससे उनका तात्पर्य होता है कि वैध हेतु विपक्ष में नहीं पाया जा सकता । "पहाड़ पर आग है" - इस अनुमान में पानी आग का विरोधी है, अतः पानी में धुआँ नहीं पाया जा सकता । जैन दार्शनिक बौद्धों के मत की आलोचना करते हैं । उदाहरण के लिये "आवाज अनंत है क्योंकि ज्ञेय है" इस अनुमान में हेतु "ज्ञेयता" है जो कि न केवल अनन्त वस्तुओं में है बल्कि सान्त वस्तुओं का भी गुण है ।

नैयायिकों के मत में वैध हेतु का लक्षण है कि उसे एक ऐसे निष्कर्ष का प्रतिपादन करना चाहिये जो दिये गये प्रतिपक्षीकरण का विरोध न करता हो ।

जैनों का कथन है कि हेतु उपर्युक्त बौद्धों और नैयायिकों द्वारा कथित विशेषता के रहते हुए भी आभासयुक्त और अवैध हो सकता है । उदाहरण के लिए एक वाक्य है "वह हरा है क्योंकि वह उसका ।एक व्यक्ति विशेष का। दूसरे और पुत्रों के समान पुत्र है ।" इस वाक्य में हेतु की पूर्वोक्त पाँचों विशेषतायें विद्यमान हैं, किन्तु फिर भी यह अवैध है । बौद्धों का इस उदाहरण के विषय में कथन होगा कि इस हेतु में विपक्ष-सत्त्व की विशेषता नहीं है क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि जो हरा नहीं है वह अनिवार्यता उसका पुत्र नहीं हो सकता और चूँकि उस विशेषता का इसमें अभाव है इसलिए हेतु अवैध है ।

जैनों का कथन है कि बौद्धों का उपर्युक्त आक्षेप हेतु विषयक इस मत का

का समर्थन करता है कि हेतु साध्य से संबंध के अतिरिक्त किसी तरह नहीं जाना जा सकता ।

इसी प्रकार नैयायिकों का हेतु-विषयक मत भी अपरोक्ष रूप से जैनों के मत का समर्थन करता है । क्योंकि यदि हेतु और साध्य के बीच नैयायिकों के मत में अनौपाधिक सम्बन्ध अनिवार्य है तो फिर हेतु की और किसी विशेषता की आवश्यकता ही नहीं रह जाती । हेतु का अविनाभाव लक्षण ही पर्याप्त है ।[11] इस संबंध को इस प्रकार दिखाया जा सकता है - जहाँ-जहाँ हेतु है वहाँ साध्य है और जहाँ साध्य नहीं है वहाँ हेतु भी नहीं है ।[12] हेतु का साध्य के साथ पाया जाना सिद्ध करता है कि हेतु तभी होता है जब साध्य होता है अन्यथा नहीं होता ।[13] उदाहरण के लिए, रसोईघर में जहाँ आग है वहाँ धुँआ देखा जा सकता है और यदि वहाँ अग्नि नहीं है तो वहाँ धुआँ नहीं देखा जा सकता ।[14] हेतु और साध्य के इस अपृथक् संबंध को उपर्युक्त धुएँ और अग्नि वाले उदाहरण के सन्दर्भ में ही आधुनिक प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र के प्रतीकों में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है -

हेतु $\supset$ साध्य	(यदि धुँआ तो अग्नि)	- सत्य
$\sim$ साध्य $\cdot$ $\sim$ हेतु	(अग्नि नहीं और धुआँ नहीं)	- सत्य

इससे सिद्ध होता है कि जिन धर्मों में यह विशेषता नहीं है उसे साध्य नहीं पक्ष कहा जायेगा । साध्य की परिभाषा ही यहाँ दी गयी है कि जो (हेतु से) अविरुद्ध है और जिसकी (हेतु के साथ) इच्छा की जाती है, वही साध्य है ।[15]

यह सत्य है कि अनुमान हेतु और साध्य के अनिवार्य संबंध पर आधारित है किन्तु यहाँ प्रश्न है कि हेतु और साध्य के बीच यह अनिवार्यता का संबंध स्थापित कैसे होता है यह ठीक है जहाँ - जहाँ हम धुँआ देखते हैं वहाँ-वहाँ हमें अग्नि अवश्य दिखायी पड़ती है किन्तु ऐसी सभी घटनाएँ (s) या उदाहरण तो हम

देखा नहीं पाते तो इस बात की प्रामाणिकता क्या है ' कि जहाँ-जहाँ धुँआ है वहाँ-वहाँ अग्नि है ।

इसका तात्पर्य है कि प्रत्यक्ष के द्वारा अविनाभाव संबंध सिद्ध नहीं किया जा सकता । इस बात को एक उदाहरण से और स्पष्ट किया जा सकता है - किस आधार पर यह कहा जाता है कि कौवे काले होते हैं ' सभी कौवों को देखा जाना तो संभव नहीं है किन्तु जितने कौवे आज तक दिखाई दिये हैं, वे सभी काले थे । एक भी ऐसा कौवा नहीं दिखाई पड़ा जो काला न हो; इससे इस बात की संभावना होती है कि कौवे काले होते हैं । किन्तु कुछ काले कौवों को देखकर सामान्य और प्रामाणिक रूप से सभी कौवों के विषय में कोई कथन कैसे किया जा सकता है ' ऐसा कथन मात्र ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष के आधार पर तो किया नहीं जा सकता क्योंकि ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष तो विशेषों का होता है । विशेषों के कितने ही उदाहरण हों किन्तु उनसे सामान्य का ज्ञान संभव नहीं है । प्रत्यक्ष वर्तमान का होता है जबकि ऐसा संबंध सार्वभौमिक और सार्वकालिक होता है । कोई भी आनुभाविक पद्धति ऐसे अनिवार्य और सामान्य संबंध की समस्या को हल नहीं कर सकती ।[16]

इस अनिवार्य और सामान्य संबंध की समस्या को, पाश्चात्यदर्शन में, जहाँ इसे "आगमन की समस्या कहा गया है प्रो० रसेल के शब्दों में इस प्रकार रखा जा सकता है, रसेल यह संदेह करते हैं कि क्या किसी घटना के घटने के कई उदाहरण इस बात का प्रमाण हैं कि वह भविष्य में भी घटेगी और रसेल स्वयं ही कहते हैं कि ऐसी सभी आशायें संभावना मात्र है । इसी लिये उनका कथन है कि वे आशायें अवश्य पूरी होंगीं, कहने के बजाय यह कहना चाहिये कि वे पूरी होनी चाहिये[17] रसेल की मूल समस्या यह ही है कि इस बात का क्या प्रमाण है कि किसी घटना के संदर्भ में भविष्य में भी वैसी ही घटेगी जैसी भूतकाल में हुई ' सूर्य भूतकाल में सदैव पूर्व से निकलता देखा गया किन्तु भविष्य में भी सूर्य पूर्व से ही निकलेगा इसका क्या प्रमाण है ' रसेल का कहना है कि यह अनुभव के आधार पर सिद्ध नहीं

किया जा सकता । साथ ही रसेल यह भी कहते हैं कि कल सूर्य निकलेगा इस बात का, अनुभव से खंडन भी नहीं किया जा सकता ।

जैन दर्शन हो या रसेल का दर्शन दोनों के ही मत में इस संबंध को न तो अनुभव के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है और न असिद्ध ही । यह ही कारण है कि पाश्चात्य दर्शन में इस सामान्य संबंध की स्थापना के लिए मिल द्वारा प्रस्तावित अन्वय, व्यतिरेक आदि आगमनिक विधियाँ असफल सिद्ध हुई क्योंकि ये विधियाँ प्रत्यक्ष पर आधारित हैं तथा प्रत्यक्ष कुछ उदाहरणों का हो सकता है । सभी का नहीं । डेविड ह्यूम ने यह ही कहा था कि इन्द्रियानुभव द्वारा हम किसी अनिवार्य और सार्वभौम सिद्धांत पर नहीं पहुँच सकते । अनुभव से केवल संभावनायें प्राप्त हो सकती हैं किसी प्रकार की अनिवार्यता नहीं । यद्यपि ह्यूम का यह कहना सत्य है कि इन्द्रियानुभव के आधार पर किसी अनिवार्य सार्वभौम नियम को सिद्ध नहीं किया जा सकता किन्तु ह्यूम की गलती यह है कि उन्होंने मात्र इन्द्रियानुभव को ही ज्ञान माना । ज्ञान मात्र इन्द्रियानुभव तक ही सीमित नहीं है परन् उससे परे भी है । जैसा कि ह्यूम के बाद आगे चलकर कांट ने ह्यूम की इसी आधार पर आलोचना की ।

इसका तात्पर्य है कि इस सार्वभौम और अनिवार्य सिद्धांत की खोज के लिए अनुभव के परे जाकर किसी नियम या आधार की खोज करनी होगी । जैसा कि रसेल का विश्वास है कि प्रकृति की एकरूपता में विश्वास का आधार कोई सामान्य नियम है, जिसका कोई अपवाद नहीं है । यह सिद्धांत रसेल के मत में आगमन का सिद्धांत है । रसेल का कहना है कि यह मात्र आगमन का सिद्धांत ही है । जो अनुमान को प्रामाणिक बना सकता है [18] इस सिद्धांत को अनुभव के आधार पर न तो सिद्ध किया जा सकता है न असिद्ध ही ।[19] आगे रसेल का कहना है कि इस आगमन के सिद्धांत को आन्तःप्रज्ञ प्रामाणिकता के आधार पर स्वीकार करना चाहिये अन्यथा भविष्य के विषय में हमारा कोई भी कथन या आशा प्रमाणित नहीं हो सकती । यदि हम आगमन के सिद्धांत को नहीं मानते

तो हमारे पास यह कहने का कोई कारण नहीं रह जाता कि सूर्य कल भी निकलेगा। उनका कहना है कि हमारा सभी व्यवहार भूतकाल में घटित साहचर्य पर आधारित है और उसके हम भविष्य में भी होने की आशा करते हैं। भूतकाल के आधार पर भविष्य के विषय में उसकी आशा करना आगमन के सिद्धांत पर आधारित है।[20]

यदि जैन दर्शन के संदर्भ में यह जानने का प्रयत्न किया जाये कि यहाँ अनुमान ज्ञान के लिए आवश्यक हेतु और साध्य के अनिवार्य और सार्वभौम संबंध, जिसे व्याप्ति संबंध भी कहा जाता है, कि प्रामाणिकता किस प्रकार स्थापित की गयी है तो स्पष्ट होगा कि जैनों ने व्याप्ति संबंध की सिद्धि "तर्क-प्रमाण" के द्वारा की है। प्रमाण मीमांसा से कहा गया है कि सहभावियों का सहभाव नियम और क्रमभावियों का क्रमभाव नियम ही अविनाभाव है और उसका निर्णय तर्क से होता है।[21] जिसे रसेल आगमन का सिद्धांत (Principle of Induction) कहते हैं उसे ही जैन दार्शनिक तर्क-प्रमाण के द्वारा व्यक्त करते हैं।[22] तर्क व्याप्ति-विषयक सामान्य ज्ञान है और इसका पाश्चात्य दर्शन के कार्य कारण संबंध, आपादन संबंध (Implication) और अविनाभाव संबंध से किसी सीमा तक तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है। जैन दार्शनिक अनुमान को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं किन्तु अनुमान की प्रामाणिकता व्याप्ति ज्ञान पर निर्भर है तथा व्याप्ति ज्ञान तर्क पर निर्भर है। इसलिए जैन दार्शनिक तर्क को स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं।[23] साध्य और साधन के अविनाभाव संबंध को न तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष जान सकता है और न सविकल्प। अतः इसके जानने के लिए तर्कनाम का प्रमाणांतर मानना चाहिए। इन्द्रियमानस और योगिप्रत्यक्ष व्याप्ति को ग्रहण करने में असमर्थ है।[24]

तर्क की परिभाषा प्रमाणमीमांसा में इस प्रकार दी गयी है - उपलम्भ और अनुपलम्भ के निमित्त से जो व्याप्ति ज्ञान होता है वह ही तर्क है।[25]

स्याद्वाद मंजरी में तर्क की परिभाषा दी गयी है – "उपलम्भ ‡अर्थात् सहचारदर्शन‡ और अनुपलम्भ ‡अर्थात् व्यभिचार अदर्शन‡ से फलित साध्य साधन के त्रैकालिक संबंध आदि के ज्ञान का आधार तथा इसके होने पर ही यह होना और न होने पर न होना, इस आकार वाला जो ‡मानसिक‡ संवेदन है वह उह, उसका ही नाम "तर्क" है।"[26]

तर्क की व्याख्या में जो उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्द का प्रयोग किया जाता है उसका अर्थ क्रमशः अन्वय सहचार, व्यतिरेक और अनुपलब्धि है। जैनों के "तर्क" की व्याख्या रसेल के "आगमन के सिद्धांत" की व्याख्या से काफी हद तक साम्यता रखती है। रसेल ने इस सिद्धांत का वर्णन इस प्रकार किया है कि जब किसी एक प्रकार की वस्तु सदैव किसी एक दूसरी प्रकार की वस्तु के साथ जुड़ी पाई जाती है ‡जैनों के शब्दों में "अन्वय सहचार"‡ और कभी भी उससे अलग नहीं पाई जाती ‡जैनों के शब्दों में व्यतिरेक, या अनुपलब्धि‡, और जब यह संयोजन पर्याप्त मात्रा में कई उदाहरणों में पाया जाता है तब वह विशेष प्रकार का संयोजन और साहचर्य अधिक संभाव्य हो जायेगा। इन साहचर्य संबंध के पर्याप्त मात्रा में उदाहरण मिलने पर साहचर्य की संभाव्यता निश्चितता के निकट पहुँच जायेगी।[27]

जिस प्रकार रसेल मानते हैं कि सामान्य का ज्ञान अन्तःप्रज्ञा के माध्यम से होता है और हमारा सारा यथार्थ ज्ञान यहीं से शुरू होता है। इस अन्तः प्रज्ञा ज्ञान के सत्य होने का रसेल दावा करते हैं।[28] इसी प्रकार "तर्क" की परिभाषा में जैन दार्शनिक अन्वय, व्यतिरेक को व्याप्ति ग्रहण का मात्र साधन ही मानते हैं। वस्तुतः व्याप्ति का ग्रहण मानसिक संवेदना या अन्तःप्रज्ञा से होता है जो अन्वय, व्यतिरेक रूप तथ्यों को साधन बनाकर व्याप्ति ग्रहण करता है। तर्क के इस अन्तःप्रज्ञा रूप का समर्थन प्रमाणमीमांसा की स्वोपज्ञवृत्ति में हेमचन्द्र ने किया है। उनका कहना है कि व्याप्ति ग्रहण के समय ज्ञाता योगी के समान हो जाती है।[29]

जैन दार्शनिकों के अनुसार सामान्य और विशेष में अभेद है। तर्क आन्तःप्रज्ञ शक्ति के द्वारा विशेष के प्रत्यक्षीकरण के समय ही सामान्य को भी जान लेता है।

"तर्क" की जैन दार्शनिकों द्वारा जो परिभाषायें दी गयी है और व्याप्ति निर्धारण की जो प्रक्रिया बताई गई है उसके आधार पर "तर्क" के प्रतीकात्मक स्वरूप का इस प्रकार निर्धारण किया जा सकता है।[30]

(1) $M \cdot P$	-	सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय दृष्टान्त भावात्मक उपलम्भ
(2) $\sim P \cdot \sim M$	-	सहभाव एवं क्रमभाव का अन्वय दृष्टान्त अभावात्मक उपलम्भ
(3) $\sim(\sim P) \cdot \sim(\sim P \cdot M)$	-	व्यभिचार अदर्शन - अनुपलम्भ
(4) $(M \supset P)$	-	व्यक्तिगत सुझाव
(5) $(M \supset P) \vee \sim (M \supset P)$	-	संशय
(6) $\sim (\sim P \cdot M)$	-	संशय निरसन-व्यभिचार अदर्शन के आधार पर
(7) $\sim P \supset \sim M$	-	व्याप्ति (अभावात्मक)
(8) $M \supset P$	-	व्याप्ति (भावात्मक)

जबकि

M	=	हेतु (Middle Term)
P	=	विधेय (Predicate)
$\cdot$	=	सहभाव (conjunction)
$\supset$	=	आपादन (Implication)
$\sim$	=	निषेध (Negation)
$\vee$	=	विकल्प (Disjunction)

इस प्रतीकात्मक स्वरूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है -

।1। धुँआ है और अग्नि भी है,

।2। अग्नि नहीं है और धुँआ नहीं है,

।3। ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि धुँआ है अग्नि नहीं है और अग्नि नहीं किन्तु धुँआ है,

।4। इसलिये यह संकेत मिलता है कि जहाँ धुँआ है तो अग्नि भी है,

।5। किन्तु फिर संशय हो सकता है कि धुँए और अग्नि से व्याप्ति संबंध हो सकता है अथवा नहीं,

।6। किन्तु ऐसा कभी भी सत्य नहीं है कि अग्नि नहीं है किन्तु धुँआ है,

।7। अतः अग्नि नहीं है तो धुँआ नहीं है,

।8। इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है यदि धुँआ है तो अग्नि भी है ।

यद्यपि जैन दर्शन ने "तर्क" की अथवा रसेल ने "आगमन के सिद्धांत" की सिद्धि अन्तःप्रज्ञा के आधार पर मानी तो किन्तु क्या अंतःप्रज्ञा ज्ञान के सार्वभौम रूप से सत्य होने का दावा किया जा सकता है ? यद्यपि जैन दार्शनिकों और रसेल दोनों ने ऐसा दावा किया है। यह प्रश्न इसलिए उठता है क्योंकि अंतःप्रज्ञा सत्यों में रसेल के अनुसार वैयक्तिकता होती है, यह सबके लिये सत्य नहीं हो सकता । किन्तु सामान्य तो सबके लिए सत्य होता है तब सामान्यता को अंतःप्रज्ञा के आधार पर सिद्ध करने का क्या तात्पर्य अथवा औचित्य रह जाता है ? संभवतः यही कारण है कि रसेल आगमनात्मक साहचर्य अथवा संयोजन को निश्चित ही न कहकर निश्चय के निकट या संभाव्य जैसे शब्दों से व्यक्त करते हैं

और संयोजन से संभाव्यता की मात्रायें मानते हैं । क्या यह विचार स्व-विरोधी नहीं है कि एक तरफ तो अन्तःप्रज्ञा द्वारा प्राप्त सामान्य ज्ञान की सत्यता का दावा किया जाये और दूसरी तरफ संभाव्यता की मात्रायें मानी जायें ।

रसेल[3] इसका उत्तर देते हैं कि अन्तःप्रज्ञा द्वारा ज्ञान प्राप्त कर जब हम उस पर विचार करके उसे अभिव्यक्त करते हैं तब उसमें भूल की संभावना हो सकती है । इसलिए उसमें सत्यता की आंशिक गारंटी हो सकती है । ऐसे ज्ञान को रसेल वर्णनात्मक ज्ञान कहते हैं । इस बात को इस प्रकार समझाया जा सकता है कि हम जब प्रातःकाल सूर्य को पूर्व से निकलता हुआ देखें और कहें कि "सूर्य पूर्व से निकलता है" तो यह आंतःप्रज्ञ ज्ञान है और इसकी सत्यता में कोई संदेह नहीं है किन्तु जब ये जानते हैं कि सूर्य पूर्व से निकलता है और इस आधार पर कहें कि सूर्य पूर्व से निकलता है तो रसेल के मत में यह वर्णनात्मक ज्ञान है और इसमें पूर्ण निश्चितता का दावा नहीं किया जा सकता क्योंकि यहाँ पर हम तथ्यों में संबंध बैठाते हैं । अतः आन्तःप्रज्ञ सत्य के आधार पर प्राप्त ज्ञान में संभाव्यता की मात्रा होती है । इसलिए रसेल का विचार है कि हमारे ज्ञान का अधिकांश हिस्सा संभावित ज्ञान है ।रसेल का यह विचार आलोचनाओं से परे नहीं है। ।

तो क्या इसका तात्पर्य है कि सामान्य का ज्ञान संभाव्य है, निश्चित नहीं?'

रसेल के उपर्युक्त विचारों की आलोचना करते हुए प्रो. सालमन कहते हैं, यदि हम आगमन संप्रत्यय के स्पष्टीकरण के प्रयास में संभाव्यता के विचार को स्वीकार करते हैं और वाक्यों को आवृत्ति के अर्थ में लेते हैं तो हम एक परेशानी में फँस जाते हैं, तब यह कहना कहाँ तक ठीक होगा कि असंभाव्य निष्कर्षों की जगह संभाव्य निष्कर्षों को स्वीकार करना चाहिए । हम ऐसा नहीं कर सकते क्योंकि यदि हम संभाव्यता को आवृत्ति अर्थ में लेते हैं तो यह दिखाना सरल होगा कि जो हमारे स्वीकृत आगमनों को निश्चित करते हैं अपने निष्कर्षों को

संभाव्य रूप में स्थापित करते हैं । दुर्भाग्य से हम ऐसे किसी भी निष्कर्ष को प्राथमिकता नहीं दे सकते जो इस अर्थ में असंभाव्य निष्कर्षों से संभाव्य है ।[32]

आगे सालमन का कथन है कि आगमनात्मक दर्शन का कार्य आगमन का प्रमाणीकरण करना नहीं है वरन् हमारी आगमानात्मक अंतःप्रज्ञा का क्रमबद्ध रूप में सुधार करना है । यह सरल कार्य नहीं है, क्योंकि हमारी अंतःप्रज्ञा गहराई में छुपी हुई और एक दूसरे से संघर्ष कर सकती है । किसी भी स्थिति में आगमनात्मक नियम के प्रमाणीकरण के लिये अंतिम अपील आगमनात्मक प्रमाण के संप्रत्यय के प्रति आंतःप्रज्ञ संवेदन है ।[33]

सालमन के मत में समस्या है क्या हम अपने आन्तःप्रज्ञ अभ्यास को प्राथमिकता देने के लिये और विकल्पों के प्रति व्यवहार के लिए तर्क दे सकते हैं' यदि हम ऐसा कर सकते हैं तो वहीं आगमन का प्रमाणीकरण होगा ।[34] यद्यपि हम एक आगमानात्मक नियम से दूसरे आगमनात्मक नियम को प्रमाणित नहीं कर सकते फिर भी यह दिखाने का प्रयत्न कर सकते हैं कि एक आगमनात्मक नियम को दूसरे आगमानात्मक नियम से वरीयता देने का क्या कारण है'

किन्तु आगमनात्मक नियम के विषय में प्रो० बारकर अपने विचार प्रकट करते हुए प्रो० सालमन से सहमत नहीं हैं । उनका कहना है "मैं सालमन से इस बात में पूर्णतया सहमत हूँ कि यह सोचा जा सकता है कि आगमन, तर्क के किसी दूसरे प्रकार से कम सफल हो सकता है, यह माना जा सकता है और यह एक तार्किक संभावना (Possibility) है, किन्तु यह संभाव्यता (Probability) नहीं है । क्योंकि हम यह निश्चित रूप से जानते हैं कि यह संभाव्य नहीं है कि आगमनात्मक अभ्यास का विरोधी कोई भी अभ्यास आगे जाकर उसी तरह सफल होगा जैसा आगमनात्मक अभ्यास होगा ।"[35] समस्या यह ही है कि हम संभाव्य निष्कर्षों को असंभाव्य निष्कर्षों की अपेक्षा क्यों वरीयता देते हैं"[36] प्रो० बारकर का कथन है कि यह प्रश्न उस प्रश्न जैसा ही है कि एक वस्तु की

सुन्दरता उसकी प्रशंसा का कारण क्यों है' संभाव्य निष्कर्षों को वरीयता देने का खंडन करना असंगत है ।[37]

किन्तु प्रो० मैक्स ब्लैक का कहना है कि भूतकाल में सफलता से भविष्य में सफलता की संभाव्यता स्वयं एक आगमनात्मक नियम का प्रयोग करती है और इस प्रकार चक्रक प्रतीत होती है ।[38] अतः प्रो० मैक्स ब्लैक आगमनात्मक अनुमान के लिए नियम प्रस्तावित करते हैं जिसे वे self supporting Argument कहते हैं ।

In most instances of the use of 'R' in arguments with true premises examined in a wide variety of conditions, 'R' has been successful.

Hence (Probable).

In the next instance to be encountered of the use of 'R' is an argument with true premises, 'R' will be successful.

आगमनात्मक अनुमान का नियम जिसका आधार वाक्यों और निष्कर्ष में संकेत किया गया है वह यह है -

To argue from the most Instances of A's examined in a wide variety of conditions have been B to (Probably) the next A to be encountered will be B.

प्रो० मैक्स ब्लैक के अनुसार उपर्युक्त नियम आगमनात्मक अनुमान के लिये पूर्णतया उपयुक्त है ।[39] किन्तु प्रो० सालमन self supporting Argument की आलोचना करते हुए उसे चक्रक बताते हैं, इस अर्थ में कि इस युक्ति को अंतिम

रूप में निष्कर्ष को सत्य स्वीकार किए बिना स्थापित नहीं किया जा सकता। इस स्थिति में यह होता है कि प्रयोग किए गए अनुमान के नियम की सत्यता को स्थापित करने के लिए बजाय आधार वाक्यों की सत्यता के निष्कर्ष की सत्यता की स्वीकृति की आवश्यकता होती है किन्तु यह युक्ति को कम चक्रक नहीं बनाता है। चक्रक दोष तब होता है जबकि आधार वाक्यों में दिए गए तथ्यों का निष्कर्ष के लिए प्रमाण के रूप में प्रयोग किया जाता है विपरीत इसके कि निष्कर्ष को अस्वीकृत कर दिया जाता है तो आधार वाक्यों में व्यक्त तथ्य निष्कर्ष के लिए प्रमाण नहीं हो सकते।[40]

Prof. Salman's Counter-example is as follows-

"In most instances of the use of 'R' in arguments with true premises in a wide variety of conditions, 'R' has been unsuccessful.

Hence (Probable),

In the next instance to be encountered of the use of 'R' will be successful.

Rule is -

To argue from most instances of A's examined in a wide variety of conditions have not been 'B& to (probably) the next 'A' to be encountered will be 'B'."[41]

संदर्भ और टिप्पणी

1. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, 3.1,2 तथा प्रमाणमीमांसा, 1.1-2

2. अनुमानाधिक्येन विशेषप्रकाशनं स्पष्टत्वं ।।
तत्त्वार्थवार्तिक, 2-3.

3. तत्त्वार्थसूत्र, 1.13

4. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, 3.7

5. प्रमाणमीमांसा, 1.2-7.

6. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, 3-11.

7. न तु त्रिलक्षणकादिः ।।
वही, 3.12

8. वही, पृ० 198.

9. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ० 199,200.

10. नहि यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र चित्रभानोरिति धरित्रीधरस्याप्यनुवृत्तिरस्ति ।।
प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, 3.19

11. वही, पृ० 196-198.
तथा परीक्षामुख, 3.15,16

12. हेतु प्रयोगस्तथोप पत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां द्विप्रकारः ।।
प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, 3.29

13. सत्येव साध्ये हेतोरुपपत्तिः तथोपपत्तिः ।
असति साध्ये हेतोरनुपपत्तिरेव अन्यथानुपपत्तिः ।।
वही, 3.30

14. यथा कृशानुमानयंपारपदेशः सत्येन कृशानुमत्वे धूमवत्त्वद्वयोपपत्तेः, असत्यनुपपत्तेर्वैति ।।
वही, 3.3।

15. वही, 3. 14, 15, 16.

16. Thus all knowledge which, on a basis of experience tells us some thing about what is not experienced, is based upon a belief which experience can neither confirm nor refute ......;

(On Induction, B. Russell)
The justification of Induction, edited by Richard Swineburne, Oxford University press, 1974, p. 24.

17. Ibid, p. 19, 21.

18. The problem we have to discuss is whether there is any reason for believing in what called the uniformity of nature, is the belief that every thing that has happened or will happen is an instance of some general law, to which there are no exception.,

Ibid, p. 21.

19. Inductive principle however is equally incapable of being proved by an appeal to experience.

Ibid, p. 24.

20. Thus we must either accept the inductive principle on on the ground of its intrinsic evidence or forgo all justification of our expectations about the future.

If the principle is unsound, we have no reason to accept to rise tomorrow. All our conduct is based upon association which have worked in the past and which we therefore regard as likely to work infuture, and thus likelihood is dependent for its validity upon the Inductive principle.

Ibid, p. 24.

21. सहक्रमभाविनो: सहक्रमभाव नियमो अविनाभाव:, उहातत्तन्निश्चय: ।।
प्रमाणमीमांसा, 2.11,12,5.

22. वही, 1.35,38.

23. स्मरणप्रत्याभिज्ञानकतानुमानागम भेदान्तत्पंचप्रकारम्
प्रमाणनयतत्वलोकालंकार, 3.2

24. न्यायकुमुदचन्द्र, 3.11

25. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानम् उह: ।।
प्रमाणमीमांसा, 2.5

26. उपलम्भानुपलम्भसम्भवं त्रिकालीकलित साध्यसाधन संबंधालम्बनमिदंस्मिन्
सत्येव भवतीत्याद्याकारं संवेदनमूहस्तकपिरपर्याय यथा यावान् कश्चितद्
धूम: स सर्वोवहनौ सत्येव भवतीति तस्मिन्नसति असौ न भवत्येवेतिवा
स्याद्वाद मंजरी, पृ0 2-8.

27. On Induction p. 2,3, 24.

28. Problem of Philosophy, p. 162.

29. व्याप्तिग्रहणकाले योगीव प्रमाता ।।
प्रमाणमीमांसा, 2.5 वृत्ति

30. जैन दर्शन के "तर्क प्रमाण" का आधुनिक सन्दर्भों में मूल्यांकन-डा0 सागरमल जैन, दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 24, अंक 4, अक्टूबर 1978.

31. Problem of Philosophy, Chap. 6

32. The justification of Induction.
The concept of Inductive evidence by Wesley, C. Salmon, On Induction, Chap. 3, p. 4.

33. The task of Inductive Philosophy is not the justification of Induction but the reformulation of our Inductive Intentions .... In any case ultimate appeal for the justification Inductive rules is our intutive sense for the concept of Inductive evidence.

Ibid, p. 52.

34. The problem is can be give reasons for preferring our usage intutions and behaviour to the alternatives ? If we can that will be the justification of Induction.

Ibid, p. 56.

35. .... I fully agree with him that if it is conceivable that Induction might be less successful than some other way of reasoning, this is conceivable, and it is a logical possibility, but it is not probable that any Inductive practice will be as successful in the long run as Induction will be.

Ibid, (Is there a problem Induction, second part of symposium on Inductive evidence), Chap. 3.

36. Problem' is why is the fact that Induction is probably reliable any real reason for relying upon Induction. Why should we prefer probable conclusion to improbable ones.

Ibid, p. 59.

37. This question is too much like the question why is the beauty of a thing a reason for admiring it ? ...... Thus it is inconsistent to deny that probable conclusion are to be preferred.

Ibid, p. 60.

38. Yet an argument from success in the past to probable success in the future itself uses an Inductive rule, and therefore seems circular. Nothing would be accomplished by any argument that needed to assure the reliability of an Inductive rule inorder to establish the rule's reliability.

Self supporting argument, VIII part of the symposium on Inductive evidence, on Inductives, Chap. III

39. Ibid, p. 126.

40 The so called self-supporting arguments are circular in the fallowing precise sense. The conclusiveness of the argument cannot be established without assuring the truth of conclusion. It happens, in the case, that the assumption of the truth of the conclusion is required to establish the correctness of the rules of Inference used rather than the truth of the premises, but that makes the argument no less viciously circular. Ibid P131

41. Ibid, p. 131.

------:0:------

सप्तम - अध्याय

दर्शन की समग्रता

दर्शन की समग्रता

जैनमत में "दर्शन" का स्वरूप :

जैन दर्शन में दर्शन शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। यहाँ दर्शन मोह-कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम रूप अन्तरंग कारण से होने वाले तत्त्वों के अर्थ में श्रद्धा करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं।[1] अकलंक देव और पूज्यपाद दोनों के मतों से तत्त्वार्थ में श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है।[2] यशोविजय दर्शन पद के स्थान पर "सम्यक्त्व" पद का प्रयोग करते हैं। उनके मत से सम्यक्त्व, श्रद्धा, दर्शन और तत्त्वरुचि, सभी समानार्थक शब्द हैं।[3] किन्तु "दर्शन" की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि "दर्शन" का ज्ञानमीमांसीय महत्त्व क्या है' या ज्ञान-प्रक्रिया में "दर्शन" की स्थिति क्या है' यद्यपि जैनों के अभिप्राय के अनुसार "दर्शन" ज्ञान-प्रक्रिया का एक अनिवार्य अंग है।

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि "दर्शन" पद का प्रयोग जैन आचार्यों ने सदैव सम्यक् पद के साथ ही किया है। परन्तु यह विवेच्य है कि दर्शन के साथ सम्यक् पद के प्रयोग की क्या सार्थकता है' सम्यक् पद के प्रयोग का जो औचित्य जैन दार्शनिकों ने दिया है वह "दर्शन" को ज्ञानमीमांसीय महत्त्व प्रदान करता है, क्योंकि पदार्थों में यथार्थज्ञानमूलक श्रद्धा बताने के लिये ही दर्शन के पूर्व "सम्यक्" पद का प्रयोग किया गया है।[4] इससे "दर्शन" के अर्थ में स्पष्टता आती है क्योंकि इससे दर्शन का अर्थ अन्धश्रद्धा न होकर तत्त्व के वास्तविक स्वरूप के तार्किक विश्लेषण का प्रश्न उपस्थित होता है।

अकलंक के मत में सम्यक् पद का प्रयोग "इष्टार्थ" में होता है। सम्यक् को "तत्त्व" अर्थ में भी लिया जा सकता है। यहाँ "तत्त्व" का अर्थ है जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना।[5] आचार्य इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं कि यदि "तत्त्व" पद का प्रयोग न किया जाये तो यह समस्या उत्पन्न हो सकती है कि किस प्रकार की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जायेगा' क्योंकि

उनके मत में मिथ्यावादि प्रणीत अर्थ भी तो लोगों द्वारा जाने जाते हैं परन्तु वे तत्व नहीं हैं ।[6] अतः "तत्व" पद का प्रयोग न करने से मिथ्यावादि प्रणीत अर्थ पर श्रद्धा भी सम्यग्दर्शन कही जायेगी । यदि मात्र "अर्थ" शब्द का ही प्रयोग किया जाये तो चूँकि "अर्थ" शब्द के अनेक अर्थ हैं इसलिए संदेह होगा कि किस अर्थ की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जायेगा । अतः इन ऐकान्तिक अर्थों के निराकरण के लिये तत्व पद का प्रयोग किया ही जाना चाहिए ।

सम्यग्दर्शन के निरूपण में "तत्व" शब्द के प्रयोग के औचित्य को सिद्ध करने के बाद आचार्य "अर्थ" पद के औचित्य को भी बताते हैं । "अर्थ" शब्द का अर्थ है "जो निश्चय किया जाता है ।" यदि "अर्थ" शब्द का प्रयोग न किया जाये और मात्र तत्व ग्रहण को ही सम्यग्दर्शन कहा जाये तो यह समस्या उठती है कि चूँकि एकांतवादियों को भी तत्वश्रद्धा होती है जिससे उनकी एकांगी श्रद्धा को भी सम्यग्दर्शन कहना पड़ेगा ।[7] किंतु इच्छापूर्वक श्रद्धा को सम्यग्दर्शन नहीं कहा जा सकता ।

अतः निष्कर्ष निकलता है कि तत्व रूप से मान्य अर्थों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है । इसलिए दर्शन पद के पूर्व "सम्यक्" पद का प्रयोग "दर्शन" के आत्मगत अर्थ का निराकरण करके दर्शन को एक तार्किक पद के रूप में प्रतिष्ठित करता है ।

ज्ञान और दर्शन का संबंध :

"दर्शन" पद के और स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है । जैन दार्शनिकों ने आत्मा की चैतन्यशक्ति को आत्मा का विशिष्ट गुण माना है । यह चैतन्यशक्ति जिसे जैन दर्शन में "उपयोग" भी कहा गया है दो प्रकार की है एक तो ज्ञानोपयोग और दूसरा दर्शनोपयोग । अर्थात् चैतन्यशक्ति ही ज्ञान और दर्शन रूप से कार्य करती है ।[8] आत्मा की इस शक्ति का नाम ज्ञान है जिससे पदार्थ जाने जाते हैं तथा उस शक्ति का नाम दर्शन है जिससे तत्व की श्रद्धा होती

है । आत्मा की चैतन्य शक्ति जब बाह्य वस्तु के स्वरूप को जानती है तब इस निराकार अवस्था में दर्शन कहलाती है । आत्मा की निराकार चैतन्यावस्था उसके दर्शन की अवस्था है ।[9]

इससे यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान साकार है और दर्शन निराकार । जयधवला टीका में आकार का अर्थ बतलाया गया है कि सकल पदार्थों के समुदाय से अलग होकर बुद्धि के विषय भाव को प्राप्त हुआ कर्मकारक आकार पाया जाता है वह साकार उपयोग कहलाता है ।[10] निराकार दर्शन इन्द्रिय और पदार्थ के सम्पर्क से पूर्व होता है । स्वावभासि चैतन्य को अनाकार दर्शन तथा बाह्यावभासि चैतन्य को साकार ज्ञान कहते हैं । चैतन्य का स्व से भिन्न पदार्थों को जानना ही साकार होना है जबकि दर्शन का विषय अन्तरंग पदार्थ है । यदि दर्शन का विषय अन्तरंग पदार्थ न माना जाये तो वह अनाकार नहीं बन सकता[11] अतः विषय और विषयी के सम्पर्क के पूर्व अन्तरंग पदार्थ को ग्रहण करने वाला दर्शन होता है ।[12]

इस सन्दर्भ में अनाकार और अन्तरंग पदार्थ इन शब्दों का स्पष्टीकरण आवश्यक है क्योंकि पदार्थ तो साकार और मूर्तभौतिक ही होते हैं । "दर्शन का विषय अन्तरंग पदार्थ है" इससे क्या अभिप्राय है '

यदि हम ज्ञान का विश्लेषण करें तो देखेंगे कि ज्ञान में चैतन्य ही एकमात्र हेतु नहीं होता क्योंकि वस्तु का वास्तविक रूप चैतन्य को निरूपित करता है । यहाँ चैतन्य के अनुरूप वस्तु नहीं होती बल्कि वस्तु के वास्तविक रूप के अनुरूप चैतन्य धारा होती है । इसके विपरीत दर्शन में वस्तु की वास्तविक स्थिति क्या है ' यह प्रश्न नहीं उपस्थित होता क्योंकि यहाँ चैतन्य के अनुरूप वस्तु की अवधारणा की जाती है । यहाँ पर चैतन्य प्रधान है । इस अर्थ में पदार्थ के मानसिक संप्रत्यय को अन्तरंग पदार्थ कहा जा सकता है क्योंकि यह चैतन्य द्वारा आत्मगत अनुभूति है जिसका भौतिक पदार्थ से संबंध नहीं हुआ है । यह एक

प्रकार से चेतना का वस्तुविषयक व्यक्तिगत भाव है जिसका वस्तु के वास्तविक रूप से कोई अनिवार्य संबंध नहीं है क्योंकि अभी तक चेतना का वस्तु से सम्पर्क स्थापित नहीं हुआ है । अतः ज्ञान में जब चेतना का वस्तु से सम्पर्क स्थापित होता है तो इस बात की संभावना रह जाती है कि दर्शन ज्ञान के अनुरूप न हों । यह ही कारण है कि जैनाचार्यों ने माना है कि ज्ञान के द्वारा दर्शन का शोधन होता है । ज्ञान के बिना श्रद्धा की परिपुष्टि नहीं होती ।

दर्शन के विषय में एक मत यह भी है कि दर्शन का अर्थ है विषय और विषयी के सम्पर्क के बाद ज्ञान के पूर्व वस्तु का एक सामान्य अवभास या संवेदन ।[13] इस मत के अनुसार विषय और विषयी के सम्पर्क के तत्काल बाद ही ज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता बल्कि इस सम्पर्क के बाद वस्तु का एक अव्यक्त ग्रहण होता है । वस्तु के इस प्राथमिक प्रत्यक्षीकरण या अन्तःसंवेदन को ही दर्शन कहा है । किसी भी वस्तु के विस्तारपूर्वक जानने के पूर्व एक स्थिति होती है जब हम उस वस्तु को सामान्य रूप से देखते हैं और उस वस्तु के अस्तित्व से सचेतन होते हैं । दर्शन सत्ता की यही सामान्य अंतःप्रज्ञ अनुभूति है । इस अनुभव के बाद ही प्रत्यक्षीकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है । आत्मा का पदार्थ को जानने के लिये प्रयत्न करना ही दर्शन है क्योंकि यदि चेतना से सम्पर्क होते ही ज्ञान मान लिया जाये तो यह बहुधा हमारे अनुभव में आता है कि प्रतिदिन चलते हुये, सोचते हुये विभिन्न कार्य करते हुये अनेकों वस्तुओं के सम्पर्क में हम आते हैं किन्तु वे सभी वस्तुयें ज्ञान की श्रेणी में नहीं आतीं क्योंकि उन सभी वस्तुओं को जानने का प्रयत्न हम नहीं करते । ज्ञान उन्हीं वस्तुओं का होता है जिनको जानने के लिए चेतना प्रयत्न करती है । दर्शन वस्तु का सामान्य संवेदन है जबकि ज्ञान स्पष्ट और विशेष । यह ही कारण है कि अकलंक और पूज्यपाद ने कहा कि दर्शन को ही प्रथम ग्रहण करना चाहिये तथा साथ में यह भी कहा कि यह आवश्यक नहीं है कि जिसे दर्शन है उसे ज्ञान भी होगा, लेकिन हाँ, जिसे ज्ञान है उसे दर्शन अवश्य होगा ।[14] इस बात को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि मुझे सामने

वृक्ष जैसा कुछ दिखाई पड़ता है किन्तु मैं यह जानने का प्रयत्न नहीं करती कि यह क्या है। यदि कोई मुझसे यह जानने का प्रयत्न करे कि मैंने सामने क्या देखा तो मैं नहीं बता सकूँगी कि मैंने वृक्ष देखा क्योंकि मुझे वृक्ष का एक सामान्य संवेदन हुआ था जिसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इससे निष्कर्ष निकलता है कि हमारे बहुत से संवेदन दर्शन के स्तर तक ही रह जाते हैं ज्ञान नहीं बन पाते; अर्थात् जिसे दर्शन हो तो यह आवश्यक नहीं है कि उसे ज्ञान भी हो। जिसे ज्ञान होगा उसे दर्शन अवश्य ही होगा क्योंकि वस्तु के विशेष साकार ज्ञान के पूर्व उसका सामान्य निराकार संवेदन अवश्य होता है। अतः दर्शन ज्ञान की प्रक्रिया का अनिवार्य प्रथम चरण है।

इस मत के समर्थन का आधार यह है कि जैन दर्शन में ज्ञान का लक्षण दिया गया है स्वपरावभासि। अतः ज्ञान के इस लक्षण को मानने पर दर्शन को अंतरंग पदार्थ का विवेचक नहीं माना जा सकता। ज्ञान विकल्प रूप होता है दर्शन सामान्य होता है जो कि विषय और विषयी के सम्पर्क के बाद होता है।

अतः स्पष्ट होता है कि ज्ञान और दर्शन में अनिवार्य संबंध है। अकलंकदेव के मत में जैसे मेघपटल के हटते ही सूर्य का प्रकाश एक साथ ही फैल जाता है उसी तरह आत्मा में ज्ञान और दर्शन की युगपत् प्रवृत्ति होती है।[15]

दर्शन के इस अर्थ से एक प्रश्न यह उठता है कि चूँकि अवग्रह का भी जैन दार्शनिक यही अर्थ करते हैं जो दर्शन का अर्थ, तो दोनों में क्या भेद है?

अकलंकदेव इस बात का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न करते हैं। उनका कथन है कि विषय और विषयी के सम्पर्क के बाद प्रथम समय में जो "यह कुछ है" इस प्रकार का विशेषशून्य निराकार प्रतिभास होता है वह दर्शन कहलाता है उसके बाद दूसरे तीसरे आदि समयों में "यह रूप है" "यह पुरुष है" आदि रूप से विशेषांश का निश्चय अवग्रह कहलाता है। आचार्य एक सद्यःजात बालक के उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करते हैं। यदि बालक के प्रथम समय में होने

वाले सामान्य अनुभव को अवग्रह ज्ञान माना जाये तो वह कौन सा ज्ञान होगा? बालक के इस प्रथम समय के अनुभव को संशय और विपर्यय भी नहीं कह सकते क्योंकि ये दोनों सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही होते हैं जिसने उस विषय का पहले सम्यग्ज्ञान प्राप्त किया हो उसे ही उस विषय में संशय आदि हो सकते हैं। इस प्राथमिक ज्ञान को संशय और विपर्यय नहीं कहा जा सकता। इसे सम्यग्ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी अर्थ विशेष के आकार का निश्चय नहीं हुआ है। अवग्रह से पहले वस्तु मात्र का सामान्य संवेदन रूप दर्शन होता है फिर "रूप है" यह अवग्रह फिर "यह शुक्ल है या कृष्ण" यह संशय, फिर "शुक्ल होना ही चाहिये यह ईहा फिर "शुक्ल ही है" यह आवाय, उसके बाद आवाय की दृढ़तम अवस्था धारणा होती है।[16]

ज्ञान-दर्शन-चरित्र मोक्षमार्ग :

जैन दर्शन में दर्शन ज्ञान और चरित्र को सम्मिलित रूप से मोक्षमार्ग कहा गया है।[17] यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ज्ञान को या चरित्र को एकांकिक रूप से मोक्ष का मार्ग क्यों नहीं कहा गया? दर्शन में क्या कमी है जिसे ज्ञान पूरा करता है और ज्ञान में क्या कमी है जिसे चरित्र पूरा करता है? दर्शन, ज्ञान और चरित्र में आपस में क्या संबंध है और यह सभी किस प्रकार मोक्षमार्ग में सहायक होते हैं?

सर्वप्रथम हमें दर्शन होता है। जैन दर्शन में "दर्शन" शब्द के दो अर्थ मिलते हैं। एक तो दर्शन का अर्थ श्रद्धा से लिया जाता है और दूसरे, सत्ता की एक सामान्य आंतःप्रज्ञ अनुभूति के रूप में; अर्थात् वस्तु के ज्ञान को दर्शन कहा गया है। यह आत्मा की एक प्रकार की आत्मगत अनुभूति है। इसी आत्मगत अनुभूति के बाद प्रत्यक्षीकरण की क्रिया प्रारम्भ होती है।

"दर्शन" पद का अर्थ कुछ भी लिया जाय किंतु उल्लेखनीय यह है कि दर्शन पद का प्रयोग सदैव "सम्यक्" पद के साथ ही किया गया है, एकान्ततः नहीं;

अर्थात् जैनदर्शन में मोक्ष का अभिप्राय केवल दर्शन से नहीं वरन् सम्यक् दर्शन से होता है । अतः दर्शन का अर्थ चाहे श्रद्धा हो, चाहे प्रत्यक्षीकरण के पूर्व की आंतःप्रज्ञ अनुभूति, वह मोक्ष के लिये उपयोगी तभी होगी जब उसमें "सम्यकत्व" का गुण आ जाये । दर्शन को सम्यक्त्व का यह गुण ज्ञान ही प्रदान करता है । यशोविजय का मत है कि श्रद्धा की परिपुष्टि ज्ञान के बिना नहीं होती । अज्ञानी की श्रद्धा बड़ी दुर्बल होती है जो सहज ही विपरीत तर्क से प्रभावित हो जाती है । उनके मत में ज्ञान से श्रद्धा का शोधन ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अंजन से नेत्र का ।[18] तात्पर्य यह है कि इच्छापूर्वक श्रद्धा को सम्यक् दर्शन नहीं माना जा सकता । ज्ञान चूँकि दर्शन का परिष्कार करता है इसलिये श्रेष्ठ है ।[19]

यद्यपि कहीं-कहीं जैन आचार्यों ने मात्र श्रद्धा को मोक्ष का मार्ग कहते हुये दर्शन को ज्ञान से श्रेष्ठ बताया है ।[20] वस्तुतः यह प्रश्न ही गलत है कि दर्शन श्रेष्ठ है या ज्ञान । ज्ञान और दर्शन पृथक नहीं हैं । प्रत्युत ज्ञान और दर्शन प्रत्यक्षीकरण की क्रिया की दो अवस्थायें या अंग हैं । ज्ञान और दर्शन आत्मा की दो शक्तियाँ हैं; अर्थात् आत्मा की चैतन्य शक्ति ही ज्ञान और दर्शन रूप से परिणमन करती है । आत्मा की निराकार चैतन्यता इसके दर्शन की अवस्था है और आत्मा की साकार चैतन्य अवस्था उसके ज्ञान की अवस्था है ।[21]

ज्ञान प्राप्ति की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया के अनुसार भी ज्ञान के पूर्व वस्तु का एक सामान्य ग्रहण या आत्मा को उस वस्तु की एक आन्तरिक या आत्मगत अनुभूति अवश्य ही होती है । इस प्राथमिक अनुभूति के बाद ही व्यक्ति उसका ज्ञान प्राप्त करता है । बिना इस आन्तरिक अनुभूति के जिसे "दर्शन" कहा गया, ज्ञान ही उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः ज्ञान के पूर्व दर्शन अवश्य ही होता है । जैन दार्शनिकों का यह स्पष्ट मत है कि जिसे ज्ञान होता है उसे दर्शन अवश्य होता है । साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि जिसे दर्शन हो उसे आवश्यक नहीं है कि ज्ञान भी हो ही ।[22] हमारे बहुत से संवेदन या अनुभव इसी प्राथमिक अनुभूति के स्तर के ही बाद नष्ट हो जाते हैं । ज्ञान का रूप

तो वही संवेदन ले पाते हैं जो अधिक तीव्र होते हैं । दर्शन तभी सम्यक् कहलाता है जबकि वह यथार्थ ज्ञानमूलक होता है ।[23] सम्यग्दर्शन ही ज्ञान के लिये उपयोगी होता है । अतः स्पष्ट है कि चूँकि ज्ञान और दर्शन प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया के ही दो अंग हैं इसलिए दोनों में अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है । जैसा कि माइल्लधवल कहते हैं - प्रमाण और नय (ज्ञान) के स्वरूप का निश्चय होने पर वस्तु का निश्चय होता है और वस्तु का निश्चय होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ।[24]

अब ज्ञान और चरित्र के संबंध का जटिल प्रश्न आता है ।

जैन दर्शन में आत्मा का शुद्ध ज्ञानभाव ही उसका स्वभाव है तथा इसी स्वभाव की प्राप्ति मोक्ष है ।[25] जीव में जो स्वभाव सिद्ध गुण होता है उसे यहाँ स्वभाव कहा गया है । तात्पर्य यह है कि यद्यपि ज्ञान को आत्मा का स्वाभाविक गुण मानने पर भी संसार अवस्था में यह गुण अनादि काल से कर्मजन्य आवरण से ढका हुआ है । कर्म का क्षयोपशम होने पर ही ज्ञान संसारी जीवों में प्रकट होता है । इसलिये ज्ञान जीव का स्वाभाविक गुण होते हुये भी क्षायोपशमिक और क्षायिक भाव में गिनाया गया है ।

जयधवला टीका में कहा गया है कि इस ज्ञान की वृद्धि और हानि के द्वारा जो तरतम भाव होता है वह निष्कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि वृद्धि और हानि न होने से ज्ञान के एक रूप से स्थित रहने का प्रसंग प्राप्त होता है; किन्तु एकरूप से अवस्थित ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती है । अतः ज्ञान प्रमाण में होने वाली वृद्धि और हानि के सकारण सिद्ध हो जाने पर उसमें जो हानि के तरतम भाव का कारण है, वह आवरण कर्म है, यह सिद्ध हो जाता है ।[26] आगे इस टीका में कहा गया है कि यदि कर्म को जीव से संबद्ध न माना जाये तो कर्म के कार्यरूप मूर्त शरीर से जीव का संबंध नहीं बन सकता है । जैसा कि माइल्लधवल ने कहा था वैसे ही जयधवला टीका में भी कहा गया कि यदि जीव

का कर्मों के साथ अनादिकालीन संबंध स्वीकार न किया जाये तो वर्तमान काल में जीव और कर्मों का जो संबंध उपलब्ध होता है वह नहीं बन सकता ।[27]

जीव की यह कर्मजन्य अवस्था क्षायोपशमिक ज्ञान रूप ही है । इस अवस्था को जीव का स्वलक्षण नहीं कहा जा सकता । आत्मा की शुद्ध ज्ञायकभाव अवस्था उसका स्वभाव है । अतः शुद्ध जीव के लक्षणों के द्वारा ही उसे ग्रहण करना चाहिये । षट्खंडागम में कहा गया है कि जीव के पूर्णस्वभाव की प्राप्ति होनी चाहिये क्योंकि स्वभाव वृद्धि का तारतम्य पाया जाता है जैसे शुक्ल पक्ष के चन्द्र मंडल का ।[28]

जो कर्मजीव से संबद्ध हैं वे सहेतुक होते हैं । यदि ऐसा न माना जाये तो जो जीव निर्व्यापार हैं उनको भी कर्मबंधन होगा । कर्म का कारण मिथ्यात्व असंयम और कषाय हैं क्योंकि सम्यक्त्व, संयम और विरागता का जीवद्रव्य के अविनाभावी ज्ञान की वृद्धि के साथ कोई विरोध नहीं है इसलिये वे जीव के गुण रूप से अवगत हैं ।[29] कषायें ज्ञान की विरोधी हैं क्योंकि कषायों की वृद्धि और हानि से क्रमशः ज्ञान की वृद्धि और हानि पाई जाती है । प्रमाद व असंयम भी जीवगुण नहीं है क्योंकि वे कषायों के कार्य हैं । इस कारण ज्ञान, दर्शन, संयम, सम्यक्त्व, क्षमा, मृदुता, आर्जव, सन्तोष, विराग आदि स्वभाव गुण हैं, यह सिद्ध होता है ।[30]

माइल्लधवल का कहना है कि मैं क्रोध आदि से भिन्न एक परमतत्त्व हूँ, मैं केवल ज्ञाता हूँ । इस प्रकार की एकत्व भावना होने पर आत्मा परमानन्दमय होता है ।[31] कहने का तात्पर्य है कि जब शुद्ध ज्ञाता रूप लक्षण वाली आत्मा को ग्रहण कर लिया तो उसके ध्यान के लिये इस प्रकार की भेदभावना की आवश्यकता होती है कि न मैं क्रोधरूप हूँ न मानरूप हूँ, न मायारूप हूँ, न लोभरूप हूँ और न रागादिरूप हूँ, ये सब तो पुद्गल के विकार हैं, जब तक इस प्रकार की भेदभावना नहीं होती तब तक ज्ञानादि की तरह क्रोधादि को भी अपना स्वभाव

मानकर रागद्वेष करता है । इस अज्ञान का नाश होने पर ही आत्मा परमानंद मय होता है । आगे माइल्लधवल कहते हैं रागादि भावकर्म मेरे स्वभाव नहीं हैं क्योंकि वे तो कर्मजन्य हैं मैं तो ज्ञाता आत्मा हूँ जो स्वसंवेदन के द्वारा जाना जाता है; अर्थात् इस प्रकार भावना में निरन्तर लीन मुनियों में ही चरित्र पाया जाता है । आत्मा को जान लेने के बाद जो उसमें तल्लीनता बढ़ती है उसी का नाम वस्तुतः चरित्र है ।[32]

यशोविजय जी का कहना है कि ज्ञान में जो सम्यकत्व का गुण है वह चरित्र के बिना सम्पन्न नहीं होता । सच्चरित्र के पालन से ही ज्ञान में सम्यक्त्व का उदय होता है । ज्ञान क्रिया निरपेक्ष होकर फल का साधक नहीं हो सकता । चरित्र बल से व्यक्ति अपनी साधना में निरन्तर आगे बढ़ता जायेगा ।[33]

तात्पर्य यह है कि "स्वभाव" के ग्रहण और "परभाव" के त्याग से ही कर्मों का क्षय होता है । अकलंक के मत में आत्मा को दो चीजें बंधन में डालती हैं एक तो वासना युक्त मिथ्याज्ञान और दूसरे अनेक जन्मों के संगृहीत कर्मपुण्य । इनमें से प्रथम अर्थात् वासनायुक्त मिथ्याज्ञान का नाश तो ज्ञान से हो जाता है किन्तु पूर्व जन्मों के अवशिष्ट कर्म तब भी रह जाते हैं जो कि आत्मा की मुक्ति में बाधक होते हैं । अतः उन कर्मों के क्षय के लिये चरित्र का पालन आवश्यक है ।[34]

नयचक्र में कहा गया है कि तप से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होता है । ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है और संयम मुक्ति करने वाला है । साथ ही, ज्ञान, तप और संयम इन तीनों के मिलने पर मोक्ष होता है ऐसा जिन शासन में कहा गया है ।[35] इसी में आगे कहा गया है कि क्षायोपशमिक ज्ञान के नष्ट हो जाने पर और अनंत ज्ञान के उत्पन्न होने पर देवेन्द्र और दानवेन्द्र जिन वर की पूजा करते हैं ।[36] नयचक्र में कहा गया है कि चरित्र से युक्त जीव में परम सौख्य रूप मोक्ष पाया जाता है और वह चरित्र निरन्तर भावना में लीन मुनि समुदाय में

पाया जाता है ।[37]

अंत में, निष्कर्ष के रूप में अकलंकदेव का यह मत उपयुक्त ही है कि यद्यपि तीनों [ज्ञान-दर्शन-चरित्र] में लक्षण भेद हैं फिर भी तीनों मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति उत्पन्न करती हैं जो अखंड भाव से एक मार्ग बन जाती है ।[38]

------:0:------

सन्दर्भ और टिप्पणी

1. तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, तत्त्वार्थवार्त्तिक भाग 1, पृ0 276.
2. सर्वार्थसिद्धि, पृ0 5.
3. जैनन्यायखण्डखाद्य, गाथा 73.
4. सर्वार्थसिद्धि, पृ0 5.
5. सम्यगिष्टार्थतत्वयोः, तत्त्वार्थवार्त्तिक, पृ0 276.
6. वही, पृ0 296, 21.
7. वही, पृ0 22-25.
8. वही, पृ0 266.
9. जयधवलाटीका, पृ0 380.
10. वही, पृ0 338.
11. वही, पृ0 337.
12. तत्त्वार्थवार्त्तिक, 9.29, 31.
13. जयधवलाटीका पृ0 339.
14. तत्त्वार्थवार्त्तिक, गाथ भाग एक, पृ0 26-29.
15. वही, पृ0 26-29.
16. तत्त्वार्थवार्तिक, भाग 1, पृ0 307.
    सम्यग्दर्शन ज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गः
17. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, 1.1

18. सम्यक्त्वमत्यनवगाढमूते किलैत दम्यासतस्तु समयस्य सुधावगाढम् ।
ज्ञानं हि शोधकमुख्य यथाजनं स्यादन्तणो यथा च पचतः कतकस्यचूर्णम् ।।
जैनन्यायखण्डखाद्य, गाथा 83.

19. सर्वार्थसिद्धि, पृ0 5.

20. जैनन्यायखण्डखाद्य, श्लोक 85.

21. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, भाग 1, पृ0 26-29.

22. वही, पृ0 67-68.

23. तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनम्, वही 1.2

24. नयचक्र, गाथा 178.

25. वही, गाथा 407, 408.

26. जयधवलटीका, पृ0 56, 57, 58.

27. वही, पृ0 59.

28. षट्खंडागम, पृ0 118.

29. जयधवलाटीका, पृ0 60.

30. षट्खंडागम, पृ0 117.

31. नयचक्र, गाथा 396, 397.

32. रागादि भावकम्मा मज्झ सहावाण कम्मणा जह्मा ।
जो सवेयणं गाही सोयं वादा हवे आदा ।।
नयचक्र, गाथा 406.

33. एतादृगात्ममननं विनिहन्ति मिथ्या
ज्ञानं तथानुमतो न तदुत्थबन्धः ।
कर्मान्तराश्रयकार तु परं चरित्रं
निर्बन्धमत्र जिन ! साधु निरुद्धयोगम् ॥
जैनन्यायखण्डखाद्य, गाथा 78.

34. तत्वार्थवार्तिक, भाग 1 श्लोक 65, 66.

35. णाणं पयासयं तवो सोहओ संजमो य गुत्तियरो ।
तिण्हं पि समाजोए मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥
नयचक्र, गाथा 12.

36. उप्पण्णम्मि अणंते णट्ठम्मि य छादुमत्थिये णाणे ।
देविंददाणविंदा करोति पूजं जिणवरस्स ॥
वही, गाथा 15.

37. मोक्खं तु परमसोक्खं जीवे चरित्र संजुदे दिट्ठं ।
वट्टइ तं जइवग्गे अणवरय भावणालीणे ॥
वही, गाथा 405.

38. तत्वार्थवार्तिक, भाग 1, 65-66.

------:0:------

अष्टम अध्याय

मिथ्यात्व-सिद्धान्त

अष्टम अध्याय

मिथ्यात्व-सिद्धान्त

1. अयथार्थ ज्ञान

प्रमाण के साथ अप्रमाण का प्रश्न संलग्न रहता है । प्रमाण किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करता है और मिथ्यात्व से भिन्न होता है । प्रमाण ज्ञान है क्योंकि यह हमें एक वस्तु को स्वीकार या अस्वीकार करने में समर्थ बनाता है ।[1] ज्ञान की वैधता ज्ञेय को स्वीकार करने पर है ।[2] ज्ञान का अप्रमाण्य इसके विपरीत है अथवा ज्ञेय को अस्वीकार करने में है ।[3] प्रमाण ज्ञान अनिवार्य से वैध अथवा निश्चित है क्योंकि यह समारोप का विरोधी है ।[4] इसका अभिप्राय यह है कि अप्रामाण्य वस्तुतथ्य का विरोधी है अथवा अप्रामाण्य समारोप है । समारोप का अभिप्राय है वस्तु जो नहीं है उसे उस रूप में जानना ।[5] अप्रामाण्य या मिथ्यात्व के तीन रूप हैं[6] - संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय ।

संशय वहाँ होता है जहाँ उन कई पहलुओं को जानने का प्रयास किया जाता है जिनके विषय में अभी तक कोई निश्चय नहीं हो सका है, क्योंकि वहाँ अर्थात् उन पहलुओं के सन्दर्भ में न तो विरोधी तत्त्व मिल सके हैं और न ही समर्थक तत्त्व ही मिल सके हैं । जब दो या अधिक संभावनायें उठती हैं और हम इस स्थिति में नहीं होते कि इस पक्ष में निश्चय करें अथवा उस पक्ष में । यही स्थिति संशय की स्थिति है ।[7] उदाहरणार्थ यह निश्चय न कर पाना कि वह एक मूर्ति है अथवा मनुष्य ।[8]

भ्रम एक वस्तु का उस रूप में ज्ञान है जो वास्तव में वह नहीं है । भ्रम विपरीत प्रत्यक्ष है ।[9] इसके उदाहरण हैं - सीप में रजत का बोध होना ।[10] एक मीठी वस्तु का एक कड़वी वस्तु के रूप में ज्ञान, चक्षु-विकृति के कारण एक चन्द्रमा दो चन्द्रमाओं के रूप में दिखाई पड़ना और नाव की गति के कारण स्थिर वृक्ष का गतिशील वृक्ष के रूप में ज्ञान आदि । भ्रम या विपर्यय वस्तु का एक पहलू से निश्चय करना है जो कि वस्तु की सम्पूर्णता के ज्ञान से भिन्न है । किसी वस्तु के अनेकों पहलुओं में से यदि वस्तु का निर्णय दूसरे पहलुओं को नकारकर मात्र एक पहलू से किया जाता है तो वह ज्ञान विपर्यय कहा जायेगा ।

एक संशयावस्था और भी है – अनध्यवसाय – अनध्यवसाय की स्थिति स्मृति के अभाव में उत्पन्न होती है। किसी परिचित वस्तु पर अनभ्यस्कता के कारण ध्यान न देने की स्थिति को अनध्यवसाय कहते हैं।[11] यह वस्तु का एक प्रकार का निर्विकल्प प्रत्यक्ष है जिसमें वस्तु के विषय में विशिष्ट ज्ञान का अभाव रहता है। उदाहरण के लिए घास के मैदान पर चलते हुए मनुष्य की वह मानसिक स्थिति जिसमें उसे यह अनुभूति तो है कि पैरों के नीचे कुछ है किन्तु अनभ्यस्कता के कारण वह ध्यान नहीं देता कि वह क्या वस्तु है और उसका नाम क्या है।[12]

एक तथ्य वास्तव में जो वह नहीं है उस रूप में निश्चित करने में समारोप होता है। मिथ्याज्ञान वस्तु के स्वरूप को गलत समझना है। मिथ्याज्ञान में एक वस्तु वहाँ देखी जाती है जहाँ वह नहीं होती।

भारतीय दर्शन में मिथ्यात्व की समस्या पर अत्यन्त विस्तारपूर्वकविचार किया गया। प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों में भ्रम के विषय में विशिष्ट सिद्धान्त हैं। इसका कारण यह है कि भारतीय दार्शनिक मानते हैं कि दर्शन का आरम्भ बिन्दु मिथ्यात्व का बोध है। वे किसी वस्तु को उसकी सम्पूर्णता में जानने का प्रयास करते हैं और मिथ्यात्व के निराकरण के माध्यम से सत्य की खोज करते हैं। सत्य की खोज के प्रयास में मानव ज्ञान में असत्य का कुछ अंश भी अनुभव द्वारा अवश्य प्रविष्ट होता है। वैज्ञानिक विधि में भी भ्रम की संभावनायें रहती हैं। वैज्ञानिक खोजें सत्य का अन्वेषण करते हुये निरन्तर संभावित मुक्तियों की खोज करती रहती हैं। यही कारण है कि वैज्ञानिक अनुसंधान का कोई भी निष्कर्ष आपेक्षिक ही होता है। आगे की खोजों द्वारा उसमें परिवर्तन की निरन्तर संभावनायें बनी रहती हैं।

पर्स ने उन दार्शनिक सिद्धान्तों की कड़ी आलोचना की जो यह सोचते थे कि मानव को सत्य का यथार्थता का पूर्ण ज्ञान है। पर्स का यह सुझाव है कि ज्ञान का अनुसंधान करते समय किसी विश्वास को जकड़े नहीं रहना चाहिये। पर्स के अनुसार असत्य संभाव्यतावाद (वैज्ञानिक विधि से संबंधित भ्रांति की संभावनायें) का

मुख्य लक्ष्य यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करना है कि वे किस प्रकार की बाधायें अथवा भ्रांतियाँ हैं जो वैज्ञानिक निर्णय में रुकावट डालती हैं। भ्रांतियों का पता लगने से चिंतन-पद्धति परिशोधित होती है।[13]

यदि सत्य को जानने में अपनी इन्द्रियों और तार्किक शक्तियों पर पूर्णतया विश्वास किया जा सके, यदि इस बात को निश्चित किया जा सके कि ज्ञान को प्राप्त करने के साथ ही सत्यता का निश्चय भी हो जाता है तो वस्तु की वास्तविक प्रकृति को निश्चित करने वाले साधन के रूप में न तो तर्कशास्त्र और न दर्शनशास्त्र ही संभव होता। अतः सुसम्बद्ध ज्ञान-सिद्धान्तों के आधार के रूप में भ्रांति का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैनदर्शन के मत में अयथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में मुख्य हेतु प्रमाता या ज्ञाता ही हैं। सभी कुछ मिलकर ज्ञाता को भ्रांत कर देते हैं। यहाँ माना गया है कि साधनों और विषयों में दोष हो सकते हैं किन्तु यह दोष आत्मा की मोहावस्था के कारण ही कार्य करते हैं।[14] अतः आत्मा जब निराकरण या सर्वज्ञता की अवस्था में होती है तो उस समय किसी प्रकार के भ्रम की संभावना नहीं रहती। अतः केवल ज्ञान ही अभ्रांत ज्ञान है। शेष ज्ञान प्रकारों में ज्ञान का वास्तविक, पूर्ण, सामान्य स्वभाव प्रकट नहीं हो पाता। अतः भ्रांति प्रमाता की आवरण दशा में ही संभव है।

यद्यपि सभी आत्माओं में इस आवरणविलय की योग्यता समान होती है, किन्तु इस योग्यता का समान उपयोग परिलक्षित नहीं होता। यह उपयोग की विविधता बाह्य और आन्तरिक साधनों पर निर्भर है। विविधता के बाह्य कारण हैं विषयभेद, इन्द्रिय आदि साधन भेद और देशकाल का अंतर। आंतरिक कारण है ज्ञानों को ढक लेने वाले आवरणों की न्यूनाधिकता का तारतम्य। अभिप्राय है कि बाह्य और आन्तरिक इन साधनों की विविधता के कारण ही ज्ञान में अंतर आता है। जब आवरण-विलय नहीं होता अथवा अल्पमात्रा में होता है और बाह्य-सामग्री दोषपूर्ण होती है तो अयथार्थ ज्ञान होता है।[15]

बाह्य सामग्री की दोषपूर्णता ज्ञानावरणों की उत्पत्ति का निमित्त मात्र ही होती है। वस्तुतः अयथार्थ या भ्रांत ज्ञान की उत्पत्ति तो प्रमाता के ज्ञानावरण-जन्य मोह या मूढ़ता के कारण ही होती है। सभी दोष प्रमाता को मोहाच्छन्न कर देते हैं अथवा कहा जाये आत्मा की मोहावस्था के कारण ही सक्रिय हो सकते हैं। अतः जैनदर्शन के मत में भ्रांति में मुख्य कारण आत्मा की मोह ही है, बाकी दोष निमित्तमात्र होते हैं। वस्तु यथार्थ है, इन्द्रियाँ दोषरहित हैं फिर जो भ्रम होता है वह प्रमाता का ही दोष है। यदि साधन और विषय में दोष है तो भी वह आत्मा की मोहावस्था के कारण ही भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं। अतः जैनदृष्टि से सभी दोष आत्मदोष की सहायता से ही भ्रम उत्पन्न कर सकते हैं।[16]

जैनदार्शनिक मिथ्याज्ञान को विभाव ज्ञान की संज्ञा भी देते हैं। मति, श्रुत और अवधि इन तीन ज्ञानों का अज्ञान भी माना गया है।[17] अज्ञान की अवस्था में ये कुमति, कुश्रुत और विभंग ज्ञान कहे जाते हैं।[18] अभिप्राय है कि मति, श्रुत और अवधि ज्ञान सम्यक् भी होते हैं और मिथ्या भी।[19]

यहाँ प्रश्न उठता है कि जिस भांति सम्यग्दृष्टि मति, श्रुत और अवधि से सपादि को जानता है उसी तरह से मिथ्या दृष्टि भी। अतः ज्ञानों में मिथ्यादर्शन से क्या भ्रांति हुई ?

2. <u>अज्ञान के दो प्रकार</u>

यहाँ ज्ञान और अज्ञान के विषय में जैनों का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण सामने आता है। ज्ञान और अज्ञान का यहाँ दो दृष्टियों से विवेचन किया गया है - आध्यात्मिक दृष्टि और लौकिक दृष्टि।

आध्यात्मिक दृष्टि के अनुसार सम्यग्दृष्टि मनुष्य के सभी ज्ञान, ज्ञान ही हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि व्यक्ति का सभी ज्ञान अज्ञान ही है। उमास्वाति के मत में वास्तविक और अवास्तविक का अंतर न जानने से यदृच्छोपलब्धि अथवा विचारशून्य

उपलब्धि के कारण उन्मत्त की तरह का ज्ञान भी अज्ञान ही है किन्तु सम्यग्दृष्टि का सभी ज्ञान तो ज्ञान ही है ।[20]

उमास्वाति का यही मत है कि सत् अर्थात् प्रशस्ततत्वज्ञान, असत् अर्थात् अज्ञान इनमें मिथ्यादृष्टि को कोई विशेषता का मान नहीं होता । वह कभी सत् को असत् और असत् को सत् कहता है । यदृच्छा से सत् को सत् और असत् को असत् कहने पर भी उसका यह मिथ्याज्ञान ही है ।[21]

आगे वह कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्यादर्शन के साथ रहने के कारण इन ज्ञानों में मिथ्यात्व आ जाता है जैसे कड़वी तूमरी में रखा हुआ दूध कड़वा हो जाता है । उनके अनुसार यह शंका उचित नहीं है कि जिस तरह मणि, सुवर्ण गन्दे स्थान में गिरकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते उसी प्रकार ज्ञान को भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ना चाहिये । कड़वी तूमरी के समान मिथ्यादर्शन में ज्ञान [दूध] को बिगाड़ने की शक्ति है । यद्यपि गन्दे स्थान से मणि आदि में विकृति नहीं होती पर अन्य धातु आदि के सम्पर्क से सुवर्ण आदि भी परिवर्तित हो ही सकते हैं ।[22]

उमास्वाति का मत है कि जीव दो प्रकार के होते हैं - मोक्षाभिमुख और संसाराभिमुख । मोक्षाभिमुख जीव में समभाव की मात्रा और आत्मविवेक होता है । इसलिये वे अपने सभी ज्ञानों का उपयोग समभाव की पुष्टि में ही करते हैं । अतः उनका ज्ञान सांसारिक दृष्टि से अल्प होने पर भी ज्ञान ही होगा । इसके विपरीत संसाराभिमुख जीव का ज्ञान समभाव का पोषक न होने के कारण लौकिक दृष्टि से कितना ही अधिक हो अज्ञान ही कहा जायेगा क्योंकि वह सत्य और असत्य ज्ञान का अंतर जानने में असमर्थ होता है । अतः उसका सभी ज्ञान अज्ञान ही होगा । संसारी जीव की श्रद्धा विपरीत और समीचीन के भेद से दो प्रकार की होती है । विपरीत श्रद्धावाले व्यक्ति को विश्व का यथार्थ ज्ञान नहीं होता । यही कारण है जीव की श्रद्धा के अनुसार ज्ञान की समीचीन ज्ञान और मिथ्याज्ञान में विभक्त हो जाता है ।

सारांश यह है कि जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि वाला व्यक्ति चक्षु के द्वारा वस्तुओं को ग्रहण करता है, श्रुत के द्वारा पदार्थों को जानता है और अवधि के द्वारा पदार्थों को ग्रहण करता है उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि भी ग्रहण करता है किन्तु उन्माद के कारण वास्तविक और अवास्तविक का अंतर नहीं समझ पाता । रागद्वेष की तीव्रता और आत्मा की अंधकारपूर्ण अज्ञानावस्था के कारण वह अपने ज्ञान का उपयोग सिर्फ सांसारिक वासना की पूर्ति के लिये करता है, इसलिये उसका सारा लौकिक ज्ञान आध्यात्मिक दृष्टि से अज्ञान ही है ।[23]

यह तो जैनों की अज्ञान विषयक अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक आगमिक दृष्टि थी किन्तु यहाँ मुख्य प्रयोजन तार्किक या व्यवहारिक दृष्टि से है ।

तार्किक या व्यवहारिक दृष्टि से भ्रम का उदाहरण है रस्सी में सर्प का ज्ञान, सीप में चाँदी का भ्रम, मृगमरीचिका आदि । इस भ्रम के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । विवाद का विषय है भ्रम क्या है ? भ्रम की उत्पत्ति कैसे और क्यों होती है ? आदि-आदि ।

३. विपरीत ख्यातिवाद

भ्रम यथार्थ ज्ञान के विपरीत है और क्या है तथा क्या नहीं है इसके बीच भेद करने में असफलता है ।

जैन आचार्य वादिदेवसूरि के मत में भ्रम तब होता है जब वस्तु का एक पक्ष से निश्चय या निरूपण करते हैं । किसी वस्तु के कई अंग या पक्ष होते हैं । यदि इनमें से किसी एक ही पक्ष या पहलू से वस्तु का निर्णय करते हैं और अन्यों को छोड़ देते हैं तब वस्तु का ज्ञान भ्रम होगा ।[24] उदाहरणार्थ देखने पर यह निश्चित करना कि सीप में चाँदी है जबकि सीप चाँदी नहीं है । सीप को चाँदी के रूप में समझने की गलती करना ही भ्रम है ।[25]

जैनों का भ्रम विषयक उपरोक्त सिद्धान्त भारतीय दर्शन में विपरीत ख्याति

नाम से प्रसिद्ध है । कुमारिल और नैयायिक भी भ्रमविषयक विपरीत ख्याति सिद्धान्त के समर्थक हैं । नैयायिकों का भी कथन है कि भ्रम विषय का यथार्थ रूप प्रकाशित नहीं करता । ऐसा होता है कि अंधेरे में रस्सी को सर्प समझ लिया जाता है, सीप को चाँदी समझ लिया जाता है । किन्तु यह ज्ञान भ्रम है । यह कैसे पता चलता है ? यहाँ नैयायिक उपयोगितावादी दृष्टिकोण अपनाते हुये कहते हैं कि भ्रांतियां हमारे उद्देश्य की पूर्ति करने में असफल होती हैं । अभिप्राय यह है कि यदि किसी वस्तु के ज्ञान के आधार पर उस वस्तु के संबंध में कोई कार्य किया जाये और वे कार्य सफल निकले तो उस ज्ञान को यथार्थ समझना चाहिये और यदि विफलता मिले तो उसे भ्रम समझना चाहिये । जैसे सीप को चाँदी समझकर उठाते हैं किन्तु उठाने पर ज्ञात होता है कि वह तो मात्र सीप थी ।

जैनों और नैयायिकों के भ्रम विषयक इस विपरीत ख्याति सिद्धान्त की मीमांसकों और अद्वैतियों ने आलोचनायें कीं । मीमांसकों का भ्रम विषयक सिद्धान्त विवेकाख्याति नाम से प्रसिद्ध है ।

जैनों का मत है कि भ्रम विपरीत ख्याति में होता है, अर्थात् भ्रम प्रत्यक्षीकरण की विषयवस्तु से विपरीत वस्तु का भावात्मक प्रत्यक्षीकरण है । भ्रम में किसी वस्तु का ज्ञान उस रूप में प्रकट नहीं होता जिस रूप में वह है बल्कि उस रूप में प्रकट होता है जैसे कि वह वस्तु नहीं है ।

प्राभाकर मीमांसक जैनों के इस मत की आलोचना करते हुये कहते हैं कि भ्रम एक विपरीत ﴾वास्तविक से﴿ वस्तु का भावात्मक प्रत्यक्षीकरण नहीं है बल्कि विवेका-ख्याति अर्थात् भेद के ज्ञान का अभाव है । यह ज्ञान का अभावमात्र है । मीमांसकों के अनुसार प्रत्येक ज्ञान सत्य होता है । जिसे भ्रम कहा जाता है वह स्मृति दोष है । भूतकाल में देखी गयी वस्तु जो वर्तमानकाल में स्मृति का विषय होती है उसे वर्तमान में भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है । अर्थात् स्मृति और प्रत्यक्ष में भेद का अनुभव नहीं कर पाते । भ्रम भावात्मक मिथ्याज्ञान के कारण नहीं बल्कि अभावात्मक अज्ञान

के कारण होता है । प्रत्यक्ष देखे गये तत्त्व और स्मरण किये गये तत्त्व दोनों ही सत्य होते हैं किन्तु दोनों में जो भेद हैं भ्रम उसकी आख्याति या भेद है ।[26]

जैन जो भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में वैपरीत्य की बात करते हैं तो मीमांसक पूछते हैं कि भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में क्या वैपरीत्य होता है ? मीमांसकों के मत में स्वयं भ्रम के विषय को वास्तविक विषय से विपरीत नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें अर्थ क्रियाकारित्व नहीं होता (अर्थक्रियाकारित्व-नैयायिकों के मत में सत्यता की कसौटी है) । इसके साथ ही मीमांसक वस्तु की वास्तविकता को सदैव उसकी क्रियात्मक क्षमता पर निर्भर नहीं मानते । पानी के एक बुलबुले का दृष्टान्त दिया जा सकता है । वह बुलबुला जैसे ही इस पर हवा बहती है नष्ट हो जाता है । जिस क्षण बुलबुले का प्रत्यक्ष किया जाता है उस समय उसमें कोई व्यवहारिक क्षमता नहीं होती । हवा उसको नष्ट कर देती है और उसके प्रत्यक्षीकरण के कुछ समय बाद भी उसमें कोई क्रियात्मक क्षमता का अनुभव नहीं होता । बुलबुले में कोई क्रियात्मक क्षमता नहीं दिखाई पड़ती फिर भी बुलबुला वास्तविक है । अतः क्रियात्मक क्षमता की अनुभूति और अनानुभूति के आधार पर सत्ता के विषय में तर्क नहीं किया जा सकता ।[27]

जैनों का यह कथन कि भ्रमात्मक वस्तु वास्तविक वस्तु के विपरीत है इसकी भी मीमांसक आलोचना करते हैं । मीमांसकों का कहना है कि भ्रम के विषय को विपरीत नहीं कहा जा सकता क्योंकि हमारा प्रत्यक्षीकरण उसे ऐसा ही प्रस्तुत करता है । यह पूछा जा सकता है कि कैसे किस प्रत्यक्षीकरण में भ्रम का विषय वास्तविक विषय से विपरीत प्रतीत होता है । निश्चित ही स्वयं भ्रमात्मक प्रत्यक्षीकरण में नहीं। भ्रम का जहाँ तक संबंध है प्रत्येक प्रत्यक्षीकरण अपने विषय को वास्तविक सा प्रस्तुत करता है । यह भी नहीं कहा जा सकता कि भ्रम पूर्ववर्ती ज्ञान द्वारा असत्य सिद्ध किया जाता है । पूर्वज्ञान भ्रम के पूर्ववर्ती ज्ञान के रूप में उत्तरवर्ती को गलत सिद्ध नहीं कर सकता क्योंकि जबकि पहले वाला ज्ञान मस्तिष्क में होता है तो बाद वाला उत्पन्न नहीं हो सकता । न ही यह कहा जा सकता है कि पूर्वज्ञान भ्रम के सहवर्ती के रूप में इसे असत्य सिद्ध करता है क्योंकि ज्ञान के दो प्रकारों में सह अस्तित्व होना

सिद्ध किया जाता है । वह उत्तरवर्ती ज्ञान जो अपने विषय के लिये विपरीत तथ्य रखता है पूर्वभ्रम को गलत सिद्ध करता है तो यह कहा जा सकता है कि सब उत्तरवर्ती ज्ञान सभी पूर्ववर्ती ज्ञान की भ्रमात्मक विशेषताओं को सिद्ध करते हैं । यह नहीं कहा जा सकता कि सब उत्तरवर्ती ज्ञान पूर्ववर्ती ज्ञान की असत्यता सिद्ध करते हैं, किन्तु एक उत्तरवर्ती प्रत्यक्षीकरण जो पूर्ववर्ती प्रत्यक्षीकरण का बाधक है पूर्ववर्ती ज्ञान के भ्रमात्मक स्वरूप को सिद्ध करता है । प्रश्न है कि यह बाधक क्या है ? यदि बाधक से तात्पर्य मात्र अन्यत्व या भिन्नता है तो एक उत्तरवर्ती असत्य ज्ञान को पूर्ववर्ती भ्रम के भ्रमात्मक स्वरूप को अवश्य सिद्ध करना पड़ेगा क्योंकि उत्तरवर्ती असत्य ज्ञान पूर्वभ्रम सेअनिवार्यतः भिन्न है । एक उत्तरवर्ती भ्रम बाधक और पूर्वभ्रम को असत्य सिद्ध करने वाला नहीं कहा जा सकता । पुनः यदि बाधक से तात्पर्य है निराकरण स्थानान्तरण या पृथक्करण तो घड़ा का उत्तरवर्ती प्रत्यक्षीकरण कपड़े के पूर्ववर्ती प्रत्यक्षीकरण के विरुद्ध कहा जाना चाहिये ।[28]

प्राभाकरों के उपर्युक्त विचारों का जैन इस भाँति उत्तर देते हैं । प्रश्न उठता है - एक भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में क्या वैपरीत्य होता है ? जैन कहते हैं कि वैपरीत्य वस्तु जैसी है उसके प्रत्यक्षीकरण से भिन्न एक प्रत्यक्षीकरण में होता है । एक सीप चाँदी की तरह कुछ चीज है पुनः कुछ ऐसी वस्तु है जो इससे भिन्न है । भ्रम में सीप एक सीप के रूप में प्रत्यक्ष नहीं होती वरन् एक भिन्न तरीके में प्रत्यक्षी होती है - रजत के रूप में प्रत्यक्ष होती है ।[29]

प्रश्न उठता है कैसे, किस प्रत्यक्षीकरण में भ्रम का विषय ⁅वास्तविक विषय⁆ से विपरीत प्रतीत होता है ? जैन इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं एक उत्तरवर्ती ज्ञान जो भ्रमात्मक प्रत्यक्ष को इसके निराकरण द्वारा बाधित करता है स्पष्ट करता है कि पूर्ववर्ती प्रत्यक्षीकरण भ्रम था । निराकरण का यहाँ अभिप्राय प्रध्वंस नहीं है सुधार है । यह जानना है कि जिसे हमने पहले रजत के रूप में प्रत्यक्षीकृत किया वह वस्तुतः रजत नहीं था । इस प्रकार निराकरण भ्रम के विषय की असत्यता के ज्ञान में होता है ।

जैन दिखाते हैं कि भ्रम में प्रत्यक्षीकरण की विषयवस्तु वास्तव में सीप है, जिसका कि वास्तविक रूप छिपा हुआ है तथा वह एक दूसरे रूप को ग्रहण किये होती है। भ्रमात्मक प्रत्यक्ष में जहाँ एक ओर सीप में विशिष्टता नहीं दिखायी पड़ती वहाँ दूसरी ओर सीप और चाँदी में जो सामान्य विशेषतायें हैं जैसे चमक आदि, वह ही दिखाई पड़ती है, जो चाँदी की धारणा को जागृत कर देती है, तथा प्रत्यक्षीकरण के विषय पर चाँदी के रूप को आरोपित कर देती है।[30]

प्राभाकर कहते हैं कि भ्रम प्रत्यक्ष के विषय और स्मृति में भेद के अभाव का अनुभव है। इसकी आलोचना करते हुये जैन कहते हैं कि भेद का क्या अर्थ है? क्या यह अननुभूति निषेधात्मक प्रत्यक्षीकरण है या अभेद (प्रत्यक्ष और स्मृति के आधार) का भावात्मक प्रत्यक्षीकरण है। प्राभाकरों के मत के संदर्भ में पहली स्थिति संभव नहीं है क्योंकि उनके मत में अभावात्मक का कोई प्रत्यक्षीकरण नहीं हो सकता। प्राभाकर दूसरी स्थिति को भी स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि यह स्थिति उन्हें विपरीत ख्याति मत के निकट पहुँचा देगी। उनके विचार में भेद की अननुभूति न होने का मात्र तात्पर्य है चाँदी और सीप की सामान्य विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण।[31]

जैन कहते हैं कि प्राभाकरों का उपर्युक्त विचार उनकी सहायता नहीं कर सकता क्योंकि हमारे सत्य प्रत्यक्षीकरण में भी सामान्य विशेषताओं का प्रत्यक्षीकरण शामिल है। उदाहरणार्थ सीप को सीप के रूप में प्रत्यक्ष होता है जो सीप और चाँदी दोनों में सामान्य है।[32]

प्राभाकर इसके उत्तर में कहते हैं कि सीप के एक वास्तविक या सत्य प्रत्यक्षीकरण में इसकी सामान्य बातों के अतिरिक्त इसकी विशिष्टताओं को भी देखते हैं। जैन इसका भी खंडन करते हुये कहते हैं कि प्राभाकरों का यह मत दिखाता है कि सामान्य विशेषताओं का एकाकी प्रत्यक्षीकरण कभी नहीं होता और प्रत्येक प्रत्यक्षीकरण में सामान्य बातों के अतिरिक्त वस्तु की विशिष्टतायें भी होती हैं। तब भ्रम कैसे हो सकता है जो कि प्राभाकरों के अनुसार किसी भी सामान्य विशेषताओं के प्रत्यक्षीकरण मात्र से होता है।

आगे जैनों का यह भी कहना है कि प्राभाकरों का यह मत भी सही नहीं है । प्रत्यक्षीकरण और स्मरण की दोनों प्रक्रियायें स्वयं चेतन प्रक्रियायें हैं । जैनों का कहना है कि यदि अपरोक्ष प्रत्यक्ष अपरोक्ष प्रत्यक्ष के रूप में अनुभूत हुआ और स्मरण स्मरण के रूप में तो वहाँ भ्रम कैसे हो सकता है । यदि यह कहा गया कि भ्रम तब उत्पन्न होता है जब प्रत्यक्ष का तत्व स्मृति के तत्व के रूप में उत्पन्न होता है अथवा जब स्मृति का तत्व प्रत्यक्ष के तत्व के रूप में उत्पन्न हुआ, क्योंकि तब तो जैनों के मत में भ्रम का यह सिद्धान्त व्यवहारिक रूप से विपरीत ख्याति है ।

इसी भाँति विपरीत ख्याति और अद्वैतवादियों में भी भ्रम के विषय में तर्क-वितर्क हुआ । विपरीत ख्याति की आलोचना करते हुये अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि किसी अन्य स्थान-काल में उपस्थित चाँदी इस समय इन्द्रिय प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती क्योंकि यह इस समय इन्द्रियों के समक्ष प्रस्तुत नहीं है । अभिप्राय है कि वर्तमान समय और स्थान में भूतकाल के विषय का प्रत्यक्ष संभव नहीं है । इनके मत में यदि सीप चाँदी से बिल्कुल भिन्न है तो उसके साथ तादात्म्य कैसे हो सकता है ।

विपरीतख्याति में बाह्य वस्तुओं का लौकिक और अलौकिक रूपों में विभाजन नहीं है । यहाँ बाह्य वस्तुओं का ज्ञान संभव है । अतः अनिवर्चनीय-ख्यातिवाद संभव नहीं है । साथ ही विपरीतख्यातिवाद के अनुसार बाह्य वस्तुयें पूर्णरूप से ज्ञानरूप या शून्यरूप या पूर्णरूप से सत् नहीं है । अतः यहाँ आत्मख्याति, सत्ख्याति और असत्ख्याति भी संभव नहीं है । विपर्यय का अभिप्राय है अन्य आधार में अन्य प्रत्यय का होना । सीप में सीप का ही प्रत्यय अविपरीत प्रत्यय है जबकि रजत का प्रत्यय विपरीत प्रत्यय । मन में विद्यमान या उत्पन्न चाँदी को बाह्य वस्तु में देखना ही यहाँ भ्रम है ।[33]

अकलंक की युक्तियों के आधार पर विद्यानन्दि ने भ्रमज्ञान का भी प्रामाण्य सिद्ध किया है । इन्द्रिय दोष के कारण दो चन्द्रमा दिखायी देने में संख्यांश के

विषय में विसंवाद होने के कारण संख्याज्ञान अप्रमाण है किन्तु चन्द्र के स्वरूपांश में तत्त्वज्ञान सम्यग्ज्ञान अविसंवादि होने से उस अंश में ज्ञान प्रमाण ही है । अतः ऐकान्तिक रूप से कोई भ्रम भ्रम नहीं कहा जा सकता ।[34]

यदि किसी ज्ञान में प्रामाण्य और अप्रामाण्य नियत नहीं है तब एक ज्ञान को प्रमाण और दूसरे ज्ञान को अप्रमाण कैसे कहा जा सकता है । इस प्रश्न के उत्तर में अकलंक ने कहा कि संवाद या विसंवाद की मात्रा से प्रामाण्य और अप्रामाण्य का निश्चय होता है । जिस ज्ञान में संवाद की अपेक्षा विसंवाद की मात्रा अधिक होगी उसे अप्रमाण कहा जाता है जैसे कस्तूरी द्रव्य में स्पर्शादि गुणों की अपेक्षा गंध गुण की मात्रा अधिक होने से वह गंधद्रव्य कहा जाता है वैसे ही भ्रमज्ञानों में संवाद की अपेक्षा विसंवाद की मात्रा अधिक होने से व्यवहार में उन्हें अप्रमाण कहा जाता है ।[35]

एक अन्य दृष्टि से भी भ्रम में प्रामाण्य अप्रामाण्य का विचार हो सकता है । स्वप्रकाशवादी जैनदृष्टि से सभी ज्ञान स्वपरसंवेदि हैं । अतः वे स्वांश में प्रमाण और परांश में अप्रमाण हैं । ज्ञान की बाह्य और आंतरिक वैधता स्वीकार करके जैनों ने मीमांसा दार्शनिकों के सिद्धान्त का विरोध किया है ।[36]

यह ज्ञान के वास्तववादी सिद्धान्त की ओर संकेत करता है और यह सिद्ध करता है कि सभी प्रमाण ज्ञान है किन्तु सभी ज्ञान प्रमाण नहीं है । एक इन्द्रियानुभूति तब तक प्रामाणिक है जब तक वह तत्संबंधी व्यवहार में उपादेय बनी रहती है । सामने जल है । यह जलसंबंधी इन्द्रियानुभूति तब तक सत्य है जब तक उससे प्यास बुझ सकती है अथवा उसकी अन्य प्रकार से पुष्टि होती रहती है ।[37] इस प्रकार प्रत्येक तत्त्व की वैधता व्यवहारगत उपादेयता की विषय है । हाँ जैन इस परतः प्रामाण्य निर्णय को सर्वथा सत्य स्वीकार नहीं करते । जैसे-जैसे ज्ञान की सार्वभौमिकता में विकास होता जाता है परतः प्रामाण्य स्वतः प्रामाण्य में बदलता जाता है । इस प्रकार जैनों को परतः और स्वतः दोनों ही प्रामाण्य मान्य है ।[38]

4. जैनमत और पाश्चात्य मिथ्यासिद्धान्त

जैनों का मिथ्यात्वसिद्धान्त पाश्चात्य दर्शन में तथा वास्तववादी भ्रांति-सिद्धान्त के काफी समीप प्रतीत होता है ।

मांटेग्यू भ्रम की व्याख्या भौतिक और शारीरिक स्थितियों की सहायता से किसी आत्मगत हस्तक्षेप के बिना करते हैं । ज्ञान की स्थिति की कल्पना मांटेग्यू में एक ज्ञानमीमांसीय त्रिकोण के रूप में की है । जिसके तीन कोण हैं - वास्तविक वस्तु, उत्पन्न की गयी मानसिक स्थिति, प्रत्यक्षीकृत वस्तु । दूसरी स्थिति तीसरी स्थिति से अवगत कराती है । सामान्य स्थिति में यदि वास्तविक बाह्य वस्तु द्वारा वही प्रभाव उत्पन्न किया गया है तब उस प्रभाव से आपादन द्वारा यथार्थ रूप से उसके कारण को जाना जा सकता है । यहाँ प्रत्यक्षीकृत वस्तु और वास्तविक वस्तु एक सी होगी । किन्तु ऐसा हो सकता है कि विभिन्न स्थितियों में वही प्रभाव विभिन्न कारणों से हो । वैसी स्थिति में दोनों अनिवार्य रूप से एक नहीं हैं और भ्रम उत्पन्न हो सकता है । इस प्रकार मांटेग्यू के अनुसार भ्रम की उत्पत्ति प्रभावों की विपरीतता से होती है ।

अतः मांटेग्यू के अनुसार भ्रम मस्तिष्क के गलत संकेत देने में निहित होता है, जो विभिन्न भौतिक वस्तुओं द्वारा विभिन्न भौतिक और शारीरिक स्थितियों में उत्पन्न होता है या हो सकता है । एक मुड़ी हुई छड़ी को जो जमीन पर पड़ी है सामान्य शारीरिक परिस्थितियों में एक मानसिक स्थिति उत्पन्न करती है जो वही शारीरिक परिस्थितियों में एक आंशिक रूप से पानी के अंदर डूबी छड़ी के द्वारा भी उत्पन्न की जाती है । दोनों ही स्थितियों में हमारा मस्तिष्क बाह्य कारण के रूप में एक मुड़ी हुई छड़ी की मानसिक स्थिति से संचालित होता है । पहली स्थिति ज्ञान की स्थिति होगी और दूसरी स्थिति भ्रम की स्थिति होगी ।[39]

होल्ट के अनुसार भ्रम इस वस्तुगत जगत में विद्यमान विरोधी तथ्यों और नियमों के कारण है । उनके अनुसार एक नियम कहता है ऊपर दूसरा कहता है नीचे

और यहाँ तक कि एक नियम दूसरे के प्रभाव को शून्य कर देता है । विरोध जिसे आत्मवादी ज्ञान अथवा ज्ञाता का गुण मानते हैं वस्तुजगत का एक तथ्य है ।

साधारण व्यक्ति को एक भ्रमात्मक वस्तु वस्तु-जगत में विद्यमान है यह सोचने में जो कठिनाई होती है उसे होल्ट इस प्रकार समझाते हैं - उदाहरण के लिये, एक वस्तु में कुछ स्थायी अपरिवर्तनशील गुण है जो सभी स्थितियों में उसमें रहते हैं, यहाँ प्रश्न उठाया जायेगा, कैसे वही छड़ी सीधी और मुड़ी हुई दोनों हो सकती है क्योंकि सामान्य व्यक्ति यही सोचता है कि छड़ी में केवल एक विशेषता होनी चाहिये जो एक सामान्य प्रत्यक्षीकरण में प्रकट हुयी । होल्ट चेतना के सिद्धांत से समझाते हैं कि भौतिक जगत में दोनों विरोधी गुण होते हैं तथा विशिष्ट परिस्थितियों में ज्ञाता उनमें से केवल एक चुनता है ।

वस्तु और अस्तित्व के विषय में विचार करते हुये होल्ट इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि कैसे दो विरोधी वस्तुयें वास्तविक हो सकती हैं यदि वे वस्तुगत हैं ? होल्ट कहते हैं कि दोनों वस्तुयें वास्तविक नहीं है यद्यपि दोनों वस्तुगत हैं । वास्तविक और वस्तुगत होना एक नहीं है । उदाहरणार्थ दर्पण में दिखायी देने वाला प्रतिबिम्ब वस्तुगत है किन्तु वास्तविक नहीं । इसी प्रकार मिथ्या होने का अभिप्राय आत्मगत होना नहीं है ।

सभी वस्तुयें जो ज्ञान की विषय हैं अस्तित्वयुक्त हैं । मात्र अस्तित्वयुक्त वस्तु के विषय में वास्तविकता का कोई प्रश्न नहीं उठता । जब उनके विषय में कोई कथन स्वीकार करते हैं तब सत्यता और असत्यता का प्रश्न उठता है ।

विभिन्न प्रकार के भ्रमों का विस्तार पूर्वक विश्लेषण करते हुये होल्ट दिखलाते हैं कि भ्रम आत्मगत नहीं है । सभी प्रकार के भ्रमात्मक अनुभवों की व्याख्या भौतिक और शारीरिक परिस्थितियों द्वारा की जा सकती है । अतः यह सोचना गलत है कि भ्रम ज्ञाता मस्तिष्क द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं । एक विचार जो दूसरे विचार का निषेध करता है न कम न अधिक महत्वपूर्ण है । होल्ट यहाँ तक

कहते हैं कि भ्रम की समस्या ज्ञान की समस्या में किसी भी प्रकार शामिल नहीं है। आगे इस कथन की व्याख्या करते हुये होल्ट कहते हैं कि एक भ्रम का अनुभव करना महत्त्वपूर्ण नहीं है तथा परिभाषा से सब भ्रम ज्ञान हैं क्योंकि विरोध भ्रम कहा जाता है जब यह किसी व्यक्ति की चेतना के क्षेत्र में प्राप्त होता है। वास्तविक समस्या विरोध है।[40]

-----::0::-----

सन्दर्भ और टिप्पणी

1. अभिमतानभिमत वस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षमं हि प्रमाणम् ,
अतो ज्ञानमेवेदम्

प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, वादिदेवसूरि
अंग्रेजी अनुवादटीकासहित डा० हरिसत्य भट्टाचार्या,
जैन साहित्य विकासमंडल, बम्बई, 1967, 1.3

2. ज्ञानस्य प्रमेयाव्यभिचारित्वं प्रामाण्यम् ।
वही, 1.18

3. तदितरत्त्वाप्रामाण्यम् ।
वही, 1.19

4. तद्व्यवसायस्वभावं समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाणत्वाद् वा ।
वही, 1.6

5. अतस्मिंस्तदध्यवसायः समारोपः ।
वही, 1.7

6. स विपर्ययसंशयानध्यवसायभेदात् त्रेधा ।
वही, 1.8

7. साधकबाधकप्रमाणाभावादनवस्थितानेककोटिसंस्पर्शिज्ञानं संशयः ।
वही, 1.11

8. यथायं स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ।
वही, 1.12

9. विपरीतैककोटिनिष्टंकनं विपर्ययः ।
वही, 1.9

10. यथाशुक्तिकायामिदं रजतमिदि ।
वही, 1.10

11. किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः ।
वही, 1.13

12. यथा गच्छतस्तृणस्पर्शज्ञानम् ।
वही, 1.14

13. Collected Papers of Charles Sanders Peirce, Hartshome, Caud Weiss P (Eds), Cambridge, Harward University Press, Vol. 5, Paragraph 6, 13 and Vol. 4 Paragraph 62.

14. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,
पृष्ठ 256.

15. प्रमेयकमलमार्तण्ड,
पृष्ठ 242.

16. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक,
पृष्ठ 256.

17. तत्त्वार्थसूत्र,
1.16

18. नियमसार,
गाथा, 11, 12

19. मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च ।
तत्त्वार्थसूत्र, 1.31

20. वही, 1.31

21. सदसतोरविशेषाद्यदृच्छोपलब्धेरुन्मत्तवत् ।
वही, 1.32

22. वही, 1.31.1

23. वही, 1.32.33

24. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार,
 1.9

25. वही,
 1.10

26. प्रमेयकमलमार्तण्ड,
 पृष्ठ 53.
 प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार,
 पृष्ठ 38

27. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार,
 पृष्ठ 39

28. वही,
 पृष्ठ 40-41.

29. वही,
 पृष्ठ 43.

30. वही,
 पृष्ठ 43, 44.

31. प्रमेयकमलमार्तण्ड,
 पृष्ठ 53, 56

32. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार,
 पृष्ठ 44, 45, 46, 47

33. प्रमेयकमलमार्तण्ड,
 पृष्ठ 51
 न्यायभूषण, श्री आचार्य भासर्वज्ञ, स्वामी

34. अष्टशती,
    पृष्ठ 101

35. वही, पृष्ठ 101

36. न्यायावतारवार्तिकवृत्ति,
    पृष्ठ 169

37. परीक्षामुख,
    पृष्ठ 45

38. परीक्षामुख,
    1.13

    प्रमाणमीमांसा,
    1.1.8

    प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार,
    1.21

39. The Chief currents of contemporary Philosophy, Dr. Dhirendra Mohan Dutta, Calcutta University Press, 1950, Chapter VI Realism, The Neo-Realistic Theory of error, page 330.

40. वही

———::0::———

सन्दर्भ ग्रंथसूची

1. न्यायविनिश्चयविवरण, वादिराजसूरि, भाग एक, सं0 पं0 महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1949.

2. समयसार, कुंदकुंद, रंग के. ए. चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी.

3. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, सं. पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तालंकार, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1955.

4. तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति, विवेचनकर्ता पं0 सुखलाल जी संघवी, भारत जैन महामंडल, वर्धा, 1932.

5. नयचक्र माइल्लधवल, सं0 पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन.

6. तत्त्वार्थवार्त्तिक, दो भाग, अकलंक, सं0पं0 महेन्द्रकुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1953.

7. जैन न्यायखंडखाद्य, यशोविजय, सिंधी जैन ग्रंथमाला, 1953.

8. प्रमाणनयतत्त्वलोकालंकार, वादिदेवसूरि, अंग्रेजी अनुवाद, कालिदास भट्टाचार्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी ।

9. न्यायावतारवार्त्तिक, सिद्धसेन, सिंधी जैन ग्रंथमाला, भारतीय विद्याभवन, बंबई, 1949.

परीक्षामुख, माणिक्यनन्दि, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ, 1940.

10. सर्वार्थसिद्धि पूज्यपाद सं0 पं0 महेन्द्रकुमार, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1955.

11. कषायपाहुड़, जयधवलाटीका सहित, श्री गुणधर आचार्य, टीका श्री वीरसेन, सं0 पं0 फूलचन्द्र, महेन्द्रकुमार, पं0 कैलाशचन्द्र, मंत्री प्रकाशन विभाग, भा0 दि0 जैन संघ चौरासी, मथुरा, 1944.

12. षटखंडागम कृतिअनुयोगद्वार सूत्र, सं0 हीरालाल जैन, सेठ शिताबराय, लक्ष्मीचिन्दु, अमरावती, 1949.

13. भगवती सूत्र.

14. आगमयुग का जैनदर्शन - पं0 दलसुख मालवणिया, श्रीसन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 1966.

15. जैन न्याय, पं0 कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1966.

16. पंचास्तिकाय समयसार, कुंदकुंद, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1916.

17. नियमसार, कुंदकुंद, जैनग्रंथ रत्नाकर, बंबई, 1916.

18. प्रवचनसार, कुंदकुंद.

19. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963.

20. दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 24, अंक 4, अक्तूबर 1978, अखिल भारतीय दर्शन परिषद .

21. श्रवणं सूक्तं, जिनेन्द्रवर्णी, सर्वसेवा संघ, बनारस.

22. भारतीय दर्शन, दो भाग, डा0 सर्वपल्ली राधाकृष्णन, एलन और अन्विन, लंदन.

23. पूर्व और पश्चिम कुछ विचार, डा0 राधाकृष्णन्.

24. तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, उमास्वाति, सं0 जे0एल0 जैनी, सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस.

25. न्यायकुमुदचन्द्र, (अकलंक की लघी या गम पर टीका), प्रभाचन्द्र, सं0 पं0 महेन्द्रकुमार जैन, मानिकचन्द्र दिगम्बर जैन सीरीज, बंबई, 1938.

26. अष्टसाहस्त्री, ।अकलंक की अष्टशती पर टीका।, विद्यानन्दि, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1915.

27. प्रमाणनय तत्वलोकालंकार, वादिदेवसूरि, जैन साहित्य विकासमंडल, बंबई, 1967.

28. प्रमेयकमलमार्तण्ड, ।माणिक्यनन्दि की परीक्षामुख पर टीका। प्रभाचन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1969.

29. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, विद्यानन्दि, निर्णयसागर प्रेस, बंबई, 1918.

30. स्याद्वादमंजरी, मल्लिषेन, बंबई संस्कृत और प्राकृत सीरीज, 1933.

31. प्रमाणमीमांसा, अनुवाद और टीका सत्कारि मुखर्जी, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी, 1970.

32. तर्कशास्त्र का परिचय, हिन्दी अनुवाद, प्रो० संगमलाल पाण्डेय और गोरखनाथ मिश्र, द्वितीय संस्करण, 1962.

33. बृहदारण्यकोपनिषद ।

34. छांदोग्य - उपनिषद ।

35. मुण्डकोपनिषद ।

36. Atreya, B.L., An Introduction to Purapsychology, The International Student publication, Banaras, 1957.

37. Assquoli, Roberto, Psychosynthesis, A Manual of Principles and Techeniques, Hobbs Dorman and Company, New York, 1965.

38. Blackwood, R.T. and Herman, A.L., Editor, Problems in Philosophy East and West,

39. Barlingey, S.S., An Introduction to India logic, second edition, National Publishing House,

40. Chisholm, R.M., The theory of Knowledge, Prentice Hall, 1977.

41. Coffen and Wartofsky, Editor, Bosten Studies in Philosophy of Science Vol. II, Humanities Press, New York, 1965.

42. Dasgupta, S.N., The History of Indian Philosophy, Vol. II, Cambridge University Press, 1923.

43. Edwards, P., Editor-in-chief, The Encyclopediea of Philosophy, Macmillan Publishing Company and the Freepress, New York, 1967.

44. Flew, A., Editor, An Enquiry concerning Human Understanding by David Hume, First Callier books, New York, 1962.

45. Hagck, S., Philosophy of Logic.

46. Harrey R., The Philosophies of Science, An Introductory Survey, Oxford University Press.

47. Kalgathqi, T.H., Some Problems in Jaina Psychology, Karnatak University, Darwar, 1961.

48. Kempsmith, N., English Translation Critique of Pure Reason by J. Kant, Macmillan, London, 1956.

49. Moore, G.E., Philosophical Studies, The nature and reality of objeet of perception, Routledge and Kegen Paul Ltd.

50. Mundle, C.W.K., Perception, Facts and Theories, Oxford University Press, 1971.

51. Russell, B., Human Knowledge, its scope and limit, Allen and Unwin, London, 1963.

52. Russell, B., An outline of Philosophy, Allen and Unwin, 1963.

53. Russell, B., History of western Philosophy, 1946.

54. Russell, B., Our Knowledge of the External world.

55. Runes, D.D., Editor, Dictionary of Philosophy Philosophical library, New York, 1942.

56. Reichenback, H., The theory of Relativity and A. Priori Knowledge, University of California Press, 1965.

57. Sprott, W.J.H., Translation of New Introductory Lectures on Psychoanalysis by S. Frued, IIIrd Edition, Nogarth Press, London and The Institute of Psycho-analysis, 1946.

58. Stebbing, L.S., A Modern Elementary Knowledge revised by

59. Mundle, C.W.K., University Paperback, London.

60. Swinburne, A., The justification of Induction, Oxford University Press, 1974.

61. Schilpp, P.A., Editor Philosopher Scientist, II Edition Tudor Publishing Company, New York, 1957.

62. Wornock, C.J., Pleto Editor Philosophy of Perception, Oxford reading in Philosophy, 1967.

63. Wittgenstein, L., Tractatus Logico Philosophicus, London, 1962.

64. Akalauka's Criticism to Dharmakirti's Philosophy, L.D. Institute of Indology, Attemdabad, 1967.

------:0:------